ISSN 2349 - 1906

साहित्य यात्रा

वर्ष 1 अंक 3 अक्टूबर-दिसम्बर 2014

साहित्यिक–सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

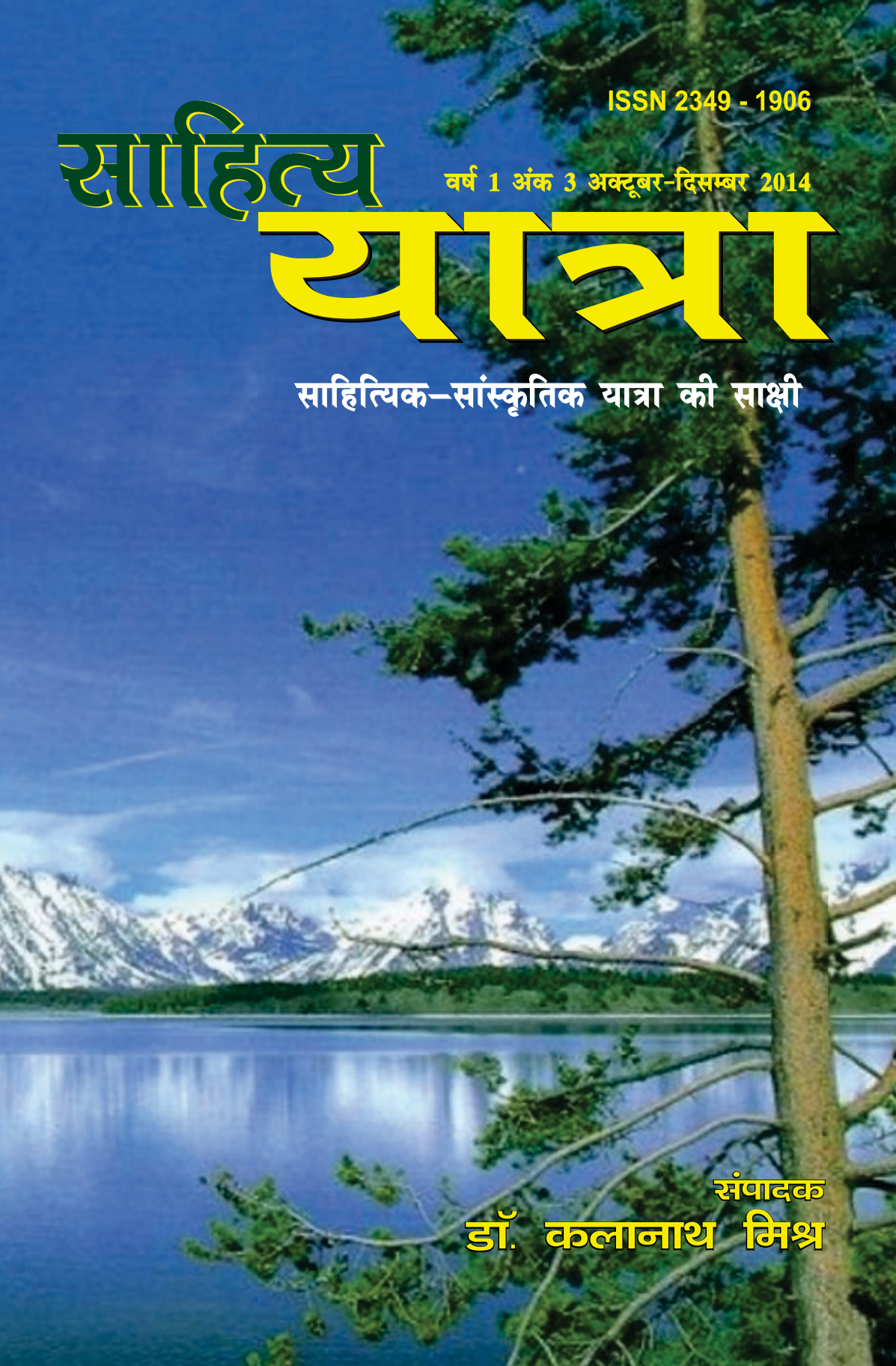

संपादक
डॉ. कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा के जुलाई-सितम्बर 2014 अंक के लोकार्पण का दृश्य

कविवर केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' के 108वें जयंती समारोह के अवसर पर सभा को सम्बोधित करते हुए डॉ. कलानाथ मिश्र

कविवर केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' के 108वें जयंती समारोह के अवसर पर सभा को सम्बोधित करते हुए कवि सत्यनारायण

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक

डॉ० कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-1 अंक-3 अक्टूबर-दिसम्बर 2014

परामर्शी

डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
डॉ० शोभाकांत मिश्र
डॉ० रामशोभित प्रसाद सिंह
डॉ० संजीव मिश्र

सम्पादकीय सलाहकार
श्री आशीष कंधवे

सहायक संपादक
डॉ० रवीन्द्र पाठक

संपादक
डॉ० कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक हैं।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा साहित्य यात्रा की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com

मूल्य : ₹ 45

शुल्क दर :	एक वर्ष (4 अंक)	₹ 300
	तीन वर्ष (12 अंक) (डाक खर्च सहित)	₹ 750
	संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	₹ 1100
	आजीवन सदस्यता	₹ 11,000
	विदेश के लिए	60 डॉलर (3 वर्ष)

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ० कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा आभा पब्लिसिटी, 163, देशबंधु गुप्त मार्केट, करोलबाग, नई दिल्ली से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ० कलानाथ मिश्र।

अनुक्रम

संपादकीय 7

डॉ० कलानाथ मिश्र

मोदी की जुबान की जादूगरी

आपके पत्र 11

विश्लेषण 14

साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

हिन्दी-कहानी की विकास-यात्रा

आलेख 19

उर्मिला शिरीष

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की कविता और जन सरोकार

डॉ० रवि शर्मा 26

शिक्षक, भाषा और भविष्य

डॉ० हरीश अरोड़ा 31

साम्राज्यवाद का नया अर्थशास्त्र है आज का मीडिया

मंथन 34

डॉ० वाहिद नसरू

जैन दर्शन में योग की अवधारणा

आलेख 44

रामयतन यादव

'लघुकथा जीवन प्रवाह के ऊर्मि-आवर्त का प्रतिबिम्ब है'

डॉ० रवीन्द्र पाठक 50

सौंदर्यबोध के मापदंड और नवोदित पीढ़ी

डॉ० कुमारी चम्पा 56

नागार्जुन के काव्य में चित्रित यथार्थ

प्रज्ञा त्रिवेदी 62

कृष्णधर्मा प्रभाखेतान

कहानी 65
उषाकिरण खान
मनुजपुत्र हँसता है

व्यंग्य 70
हरीश नवल
विक्रमार्क, बुढ़िया और सराय रोहिल्ला

कहानी 74
डॉ० शंकर 'क्षेम'
चिड़िया उड़ गयी फुर्र

यात्रा संस्मरण 78
कविता विकास
जहाँ खामोशी बोलती है..... मणिकर्ण

कविता 81
निविड़ शिवापुत्र
प्रश्न यह नहीं कि...
अंतिम पेड़ के अंत पर

गजल 84
सतीश बेदाग
कुछ नज्मे

कविता 86
मनोरमा विश्वाल महापात्र
शान्तिनिकेतन

दस्तावेज 87
रामधारी सिंह दिनकर
राष्ट्रभाषा और सामासिक संस्कृति

नवांकुर 96
अमित मिश्र
मशीनी मानव (कविता)

✍ डॉ० कलानाथ मिश्र

मोदी की जुबान की जादूगरी

विगत माह (सितम्बर) में हिन्दी दिवस के कारण हिन्दी सप्ताह, हिन्दी पखवारा जैसे आयोजन हुए। आम तौर पर ऐसे आयोजनों में एक फर्ज अदायगी जैसा भाव रहा करता है। किन्तु इस वर्ष कुछ गम्भीरता दिखी। कारण वर्तमान सरकार की हिन्दी भाषा के प्रति दृष्टिकोण तो है ही किन्तु मेरी दृष्टि विगत लोकसभा चुनाव और उसके बाद श्री नरेन्द्रभाई मोदी जी की जुबान की जादूगरी पर भी गई। इस जीत के पीछे बहुत बड़ा योगदान हिन्दी का भी है। हिन्दी के माध्यम से मोदी जी समस्त भारत की जनता के साथ सीधा संवाद स्थापित करने में सफल रहे। हिन्दी में दिए गए अपने आकर्षक भाषणों के कारण उन्होंने जनता के विचारों के साथ जिस आत्मीयता से अपने विचारों का एकाकार स्थापित करने में सफलता पायी उसने मोदी जी को जनता का महानायक बना दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस भाषा ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अहम भूमिका निभाई उसी भाषा ने मोदी जी को भी सफलता दिलाई। गांधी जी भाषा की शक्ति को जानते थे और इसीलिए उन्होंने आजादी की लड़ाई में पूरे देश में अपने विचार व्यक्त करने के लिए हिन्दी भाषा को चुना।

वैसे गाहे बगाहे कुछ राजनीतिक गलियारों से हिन्दी थोपे जाने की आवाज भी आयी है। मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ कि भाषा थोपी नहीं जा सकती। भाषा थोपना संभव ही नहीं। जब किसी भाषा का प्रभाव क्षेत्र विस्तृत होता है– जो उस भाषा की उदारता, सरलता और सहज बोधगम्यता आदि गुणों के कारण संभव होता है– तो आम जन सहज ही उस भाषा के साथ अपना एकात्म स्थापित कर लेते हैं। भाषा को भाषा से विरोध नहीं हो सकता। यह तो हमारे मन की संकीर्णता है। कुछ लोग व्यक्तिगत स्वार्थ एवं राजनीतिक लाभ के लिए भाषा विवाद को जन्म देते हैं। त्रिभाषा सूत्र को अपनाने के बाद कहीं किसी विवाद का अवसर ही नहीं रह जाता। जिन लोगों ने विकास नहीं किया, जिनके पास जनता से जुड़े ठोस

मुद्दे नहीं होते वे जनता को बरगलाने के लिए ऐसे मुद्दों को जन्म देते हैं। अब यह सिद्ध हो चुका है कि आम जनता को इससे मतलब नहीं, उनके मन में राष्ट्रभाषा के प्रति पूरा सम्मान का भाव है। वह हिन्दी के साथ सहज महसूस करता है। इसका प्रमाण बहुत हद तक मोदी के सत्तासीन होने से मिल गया। आइए विगत लोकसभा चुनाव में मोदी की जुबान की जादूगरी का नमूना देखें।

श्री नरेन्द्र मोदी ने अपने चुनाव प्रचार अभियान में भाषा की सम्प्रेषण-शक्ति का भरपूर उपयोग किया। अपने विपक्षियों पर हमला बोलते हुए उन्होंने जिस चतुराई से शब्दों को धारदार बनाकर प्रयोग किया उतनी ही व्यंग्यात्मकता और चुटीले अंदाज में उन्होंने विपक्ष के आरोपों को निष्प्रभावी बनाते हुए अपनी प्रत्युत्पन्नमतित्व का परिचय दिया। अपने भाषण के क्रम में उन्होंने हिन्दी के मुहावरों और लोकोक्तियों का भी भरपूर प्रयोग किया। भाषा के साथ-साथ आकर्षक अभिव्यक्ति की शैली, ध्वनियों के उतार-चढ़ाव, व्यंग्य-विनोद से वे जनता को अभिभूत कर लेते थे। विपक्ष का हर वार उनके सामने निष्प्रभावी हो जाता था। हिन्दी में अपने बेबाक अंदाज के कारण मोदी जी अपने प्रतिद्वंद्वी नेताओं के आरोपों में से ही शब्दों को चुनकर उसका जिस चतुराई के साथ अपने पक्ष में, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयोग करते दिखे वह किसी मंजे हुए भाषाविद् को भी चकरा दे सकता है।

जब प्रचार अपने पूरे जोर पर था। विपक्ष के पास मोदी जी के वाग्जाल से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। ऐसे में विरोधी मोदी जी की कटु आलोचना करते नहीं थक रहे थे। मर्यादा की सारी सीमाओं को लांघकर लोग नरेन्द्र मोदी जी पर लांछन लगा रहे थे। काँग्रेस ने राहुल जी की नैया पार लगाने के लिए प्रियंका को उतारा। प्रियंका जी ने नीची राजनीति के अर्थ में नीच राजनीति का प्रयोग किया। फिर क्या था, मोदी जी ने इसी को मुद्दा बनाकर हमला बोल दिया। उन्होंने कहा ''इसी 'नीच राजनीति' की ऊँचाई भारत माँ को एक समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विश्व में स्थान दिलाने की ताकत रखती है।'' एक जगह उन्होंने कहा, ''सामाजिक रूप से निचले वर्ग से आया हूँ इसलिए मेरी राजनीति उन लोगों के लिए 'नीच राजनीति' ही होगी।'' इस प्रकार उचित मौके की तलाश कर जिस होशियारी से उन्होंने पिछड़ा कार्ड खेला वह उनके भाषणकला और भाषा की निपुणता को दर्शाता है।

श्रीमती सोनिया गाँधी के इस कथन का जबाब देते हुए कि- ''मोदी को तो इतना गुरूर हो गया है कि वे अभी से ही प्रधानमंत्री की तरह व्यवहार करने लगे हैं।'' मोदी ने जिस अंदाज में कहा कि ''मैडम सोनिया जी, अब इस बात पर मैं आपको क्या कहूँ,

आपके मुँह में 'घी शक्कर।'' लाखों लोग इस मुहावरे के प्रयोग से उनके मुरीद हो गए और पूरा मैदान ठहाकों से गूंज उठा था। पार्टी के प्रमुख नारों ने अनायास ही जनता का मन मोह लिया। "अबकी बार मोदी सरकार/ अच्छे दिन आने वाले हैं/ सबका साथ सबका विकास।'' इन नारों ने लोकोक्ति का रूप ले लिया। जब आजम खाँ ने उन्हें कुत्ते का पिल्ला का बड़ा भाई जैसा अमर्यादित संबोधन दिया तो उन्होंने उसमें वफादारी का गुण दिखा दिया और उस हमले को निष्प्रभावी बना दिया। मोदी जी पर जितने हमले होते गए उनकी भाषा उतनी सामर्थ्यवान होती गई।

भाषा की कारीगरी के साथ-साथ मोदी जी की अभिव्यक्ति की शैली भी अनूठी रही। ध्वनियों का उतार-चढ़ाव, व्यंग्य-विनोद से वे ऐसा समा बाँधते थे कि श्रोता उनके मुरीद हो जाते।

जब वे राहुल जी के लिए 'साहबजादे जी!' संबोधित करते तो श्रोता बिना ठहाका लगाए नहीं रह पाते। 'शाहजादा' शब्द कोई नया नहीं है किन्तु जिस व्यंग्यात्मकता के साथ मोदी जी उसका प्रयोग करते थे वह उनके भाषा और भाषण की निपुणता को दर्शाता है। एक भाषण में उन्होंने कहा, ''ये साईकिल वाले, ये हाथी वाले, ये लालटेन वाले यहाँ झगड़ते हैं और दिल्ली में जाकर एक ही थाली में खाते हैं और मैडम परोसती हैं।''

सीधा पार्टी का नाम न लेकर जिस लाक्षणिक प्रयोग के द्वारा मोदी जी अपने कथन को प्रभावी बनाते हैं वह तारीफ करने योग्य तो है ही, जनता के भावग्रहण की क्षमता का भी द्योतक है। मोदी जी जनता की नब्ज को अच्छी तरह पहचानते हैं और उनसे संवाद स्थापित करने के लिए जिस भाषा का वे प्रयोग करते हैं उसपर भी उनकी पूरी पकड़ है। उनके कुछ वक्तव्य यहाँ उदाहरण के लिए देखिए- ''दिल्ली में दोस्ती, लखनऊ में कुश्ती- यही एसपी, बीएसपी, कांग्रेस का मंत्र है।''

21 अप्रैल को एक जगह उन्होंने कहा - हमारे लिए भारत मातृभूमि है, पर कांग्रेस के लिए मात्र भूमि है, जिसे उन्होंने केवल लूटा है।'' 26 अप्रैल को - दौड़ रहा हूँ, जनता का प्यार दौड़ा रहा है। न थका हूँ, न रुका हूँ और देश विरोधी ताकतों के सामने झुकने का तो सवाल ही नहीं।, ''कांग्रेस का असली चेहरा है 'हर हाथ लूट, हर होठ झूठ'। एक तरफ कांग्रेस नेताओं का पैसा है दूसरी तरफ हमारे कार्यकर्ताओं का पसीना और पवित्रता है। जीत पसीने और पवित्रता की होगी।'' अपनी बातों को मोदी जी सपाट तरीके से नहीं कहते वे उसे एक विशिष्ट अंदाज में परोसते हैं। यह उनके भाषा के सामर्थ्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

लगभग तीन लाख किलोमीटर की यात्रा कर श्री नरेन्द्र मोदी ने चार सौ से भी अधिक रैलियों को संबोधित किया। एक ओर जहाँ उन्होंने भाषा और भाषण कला का अद्‌भुत उदाहरण पेश कर जनता को अभिभूत किया, उनका दिल जीता, वहीं उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं और मातृभाषाओं का भी सम्मान किया। अपनी बातों को प्रभावी ढंग से पेश करने के लिए उन्होंने अपनी जुबान की जादूगरी दिखाई। उन्होंने भाषा से शक्ति अर्जित की। निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मोदी जी ने अपनी अभिव्यक्ति की आकर्षक शैली, भाव-भंगिमा, चुटकुले और मुहावरों का प्रयोग करते हुए भारत की जनता का दिल जीत लिया।

उपन्यास सम्राट 'प्रेमचंद' ने कहा था कि ''राष्ट्र की बुनियाद, राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बंधन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहता है, और उसका शीराजा बिखरने नहीं देता।'' उम्मीद है प्रधानमंत्री के रूप में भी मोदी जी भाषा के इस महत्व को समझते हुए शासन में भी आमजन की भाषा, देश की भाषा में अपनी जादूगरी दिखाएँगे।

10 अक्टूबर, 2014
पटना

संपादक

महत्त्वपूर्ण अंक

बन्धुवर कलानाथ जी

नमस्कार।

'साहित्य यात्रा' के जुलाई-सितम्बर अंक के लिए बधाई। हिन्दी के अत्यन्त संवेदनशील कवि और दृष्टिसम्पन्न आलोचक डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की रचनाशीलता के विभिन्न आयामों पर केन्द्रित यह अंक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। अंक विश्वनाथ जी का रचनात्मक संघर्ष उनके अवदान को दीप्ति ही नही, स्थायित्व भी प्रदान करता है। कई बिन्दुओं पर असहमति के बावजूद 'बेहतर दुनिया के लिए' उनका समर्पण एक प्रेरक मिशाल है। वह जितने सहज कवि हैं, उतने ही सहज मनुष्य भी। साहित्य और संस्कृति में यह संयोग विरल हो गया है। ऐसे व्यक्तित्व पर केन्द्रित अंक के लिए फिर-फिर बधाई।

आपका

नंदकिशोर नंदन

सभी दृष्टियों से परिपूर्ण

'साहित्य यात्रा' को मैं अनवरत रूप से पढ़ता आ रहा हूँ। आज के परिवेश में इस तरह की शोधमूलक पत्रिका का प्रकाशन निश्चित रूप से श्लाघनीय कार्य है। इसके हर अंक में सम्पादक की जीवटता, कर्मठता एवं सम्पादन-कला के दर्शन होते हैं। खासकर 'जुलाई-सितम्बर 2014' अंक शोध की दृष्टि से बेहद उपयोगी है। डॉ० तिवारी पर केन्द्रित यह अंक सभी दृष्टियों से परिपूर्ण है। सभी शोधलेख उच्चस्तरीय हैं।

खासकर दो आलेखों से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ। चिरंजीव ने 'मैथिलीशरण गुप्त की समन्वयवादी भावना' पर अत्यंत ही शोधपरक विचार व्यक्त किया है।

आज के माहौल में इस शोधलेख की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। लेखक ने गुप्तजी की समन्यवादी विचारों का गहन विवेचन-विश्लेषण किया है। रविशंकर ने अपने शोधलेख में हिन्दी के ख्यातिलब्ध दलित साहित्यकार

ओमप्रकाश वाल्मीकि के 'सलाम' नामक कहानी संग्रह की सूक्ष्य विवेचना की है। आज के संदर्भ में यह आलेख काफी उपयोगी है।

इस तरह की पत्रिका के सम्पादक महोदय को मैं हृदय से बधाई देता हूँ और विश्वास करता हूँ कि वे इसी तरह की साहित्य-साधना में अपने को अहर्निश तपाते रहेंगे।

-सुनील कुमार
20-09-14
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
मगध वि.वि. बोधगया।

दो शानदार और चर्चित अंक

रचनाकार कितना जीवट, बेधड़क और अपनी रचनात्मक चिंताओं के लिए कितना प्रतिबद्ध होता है यह मैं पटना, बिहार के युवा कथाकार, समीक्षक भाई डॉ० कलानाथ मिश्र के व्यक्तित्व के बहाने भी देखता रहा हूँ। भाभी जी कैंसर से जूझ रही हैं । कलानाथ उनके लिए दिन-रात एक किये हुए हैं। पर ऐसा नहीं कि वे अपने कलात्मक जीवन और उसकी दिनचर्या को मुल्तवी कर किसी उदास एकांत में सिर पर हाथ धरे जा बैठे हों ।

भाई, क्या निराला अंदाज है आपका !

यह निराला अंदाज ही है कि इस बीच उन्होंने एक साहित्यिक त्रैमासिकी का प्रकाशन-संपादन भी अपने हाथ ले लिया है। साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी अर्थात् साहित्य यात्रा। दो शानदार और चर्चित अंक निकाल चुके हैं। कुछ बात प्रवेशांक पर।

इस अंक में है श्रीरंजन सूरिदेव का चिंतन परक आलेख 'दिनकर की दृष्टि में भारतीय संस्कृति', मंथन में डॉ० हेतुकर झा का 'सांस्कृतिक क्रांति का औचित्य' जैसा महत्वपूर्ण निबंध, फिल्म पर विनोद कुमार अग्रवाल का विश्लेषणात्मक लेख 'सौ साल पहले हमें तुमसे प्यार था'...., डॉ० मिथिलेश कुमार मिश्र जी ने यहाँ आधुनिक तमिल काव्य की राष्ट्रीयधारा के महान् कवि नामक्कल और हिंदी के पं. माखनलाल चतुर्वेदी जैसे दो समकालीन कवियों की व्याख्या की है अपने आलेख 'एक ही युग की दो विभूतियाँ' में ।

इसके अलावा नरेन्द्र कोहली का व्यंग्य अमरीकन जाँघिया, वरिष्ठ कवि राम दरश मिश्र और जयप्रकाश मानस की कविताएँ, जानकी वल्लभ शास्त्री पर केंद्रित संस्मरण उल्लेखनीय है ।

अंक में हिंदी के पुरोधा रचनाकारों यथा-हजारी प्रसाद द्विवेदी, मलयज, डॉ० नलिन और देवराज उपाध्याय पर क्रमशः डॉ० रवीन्द्र पाठक, डॉ० अरविंद कुमार, डॉ० ब्रजबिहारी पांडेय और डॉ० विवेकानंद पाठक द्वारा जिस दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है, वह संग्रहणीय है।

डॉ० आशुतोष पार्थेश्वर ने हिंदी की आरंभिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञापनों में अंधविश्वास की अच्छी पड़ताल की है । हिंदी की इस नयी और गंभीर पत्रिका की तारीफ इसलिए भी की जानी चाहिए क्योंकि यहाँ नवांकुरों के लिए भी जगह सुरक्षित रखी गयी है । सबसे बड़ी बात यह भी कि यहाँ संपादक अंधो की मानिंद रेवड़ी बाँटते नजर नहीं आते, जो चीन्ह-चीन्ह कर ही उत्पात मचाता है । ।

भाई कलानाथ जी, आपकी प्रतिभा और जोखिम उठाने की कला का पुनः वंदन!

जयप्रकाश मानस,
,Q&3] Nxekfle vkokl h; ifjlj]
i:luokMk] jk; ij] NÙkhlx<&492001

❑❑❑

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

सदस्यता फार्म

नाम .....
पता .....
.....
.....
फोन ..... मोबाइल ..... ई-मेल .....

एक वर्षः ₹ 300
तीन वर्षः ₹ 750
दिनांकः .....
हस्ताक्षरः .....

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर इस पते पर भेजें-
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001
बिहार

हिन्दी-कहानी की विकास-यात्रा

● साहित्यवाचस्पति
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

हिन्दी में लिखित कहानी के पहले गाँव-घर की बूढ़ी-नानी-दादियाँ बच्चों को मौखिक कहानियाँ सुनाया करती थीं। महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' (1.30) में 'कथाकोविद', यानी किस्सागो ग्रामवृद्धों की चर्चा की है। शाम के वक्त थके-माँदे लोग, खाने-पीने के बाद किस्सागो को घेरकर बैठ जाते और वे उन्हें उस जमाने की विभिन्न कथाएँ कहना शुरू करते, जिसका क्रम दिन पर दिन चलता रहता। कालिदास ने यथासंकेतित श्लोक (1.30) में लिखा है कि उज्जयिनी के गाँवों के बड़े-बूढ़े लोग राजा उदयन की प्रेम-कथाएँ सुनाने में दक्ष होते थे। उज्जयिनी ही क्यों, देश के प्रत्येक ग्राम और नगर में कथाकोविद बूढ़े-बूढ़ियाँ होते थे और उनके कथानायक उदयन की जगह कोई भी राजा, राजकुमार, परी या फिर मानवेतर प्राणी होते थे। इस प्रकार, छापाखाने के युग से बहुत पहले मौखिक रूप में कहानियों का अस्तित्व विद्यमान था।

हिन्दी-कथा के विकास की परंपरा का कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जा सकता; क्योंकि यह परंपरा मौखिक थी। कतिपय आलोचक ऐसा मानते हैं कि संस्कृत-काल या वैदिक-पौराणिक काल तथा हिन्दी के आधुनिक काल के बीच कथा की परंपरा खण्डित हो गई थी, किन्तु यह एक सर्वथा भ्रान्त धारणा है। किस्सा-कहानी की परंपरा के सदैव दो रूप रहे हैं- एक लिखित तथा साहित्यिक और दूसरा मौखिक। कहना न होगा कि कथा के इस दूसरे, यानी मौखिक रूप की परंपरा अविच्छिन्न रही है।

कतिपय आलोचक ऐसा मानते हैं कि संस्कृत-काल या वैदिक-पौराणिक काल तथा हिन्दी के आधुनिक काल के बीच कथा की परंपरा खण्डित हो गई थी, किन्तु यह एक सर्वथा भ्रान्त धारणा है। किस्सा-कहानी की परंपरा के सदैव दो रूप रहे हैं- एक लिखित तथा साहित्यिक और दूसरा मौखिक। कहना न होगा कि कथा के इस दूसरे, यानी मौखिक रूप की परंपरा अविच्छिन्न रही है।

हिन्दी-कहानी का आविर्भाव जिस समय हुआ था, उस समय संस्कृत-साहित्य पूर्ण विकसित अवस्था

में था। ऐसा नहीं कि संस्कृत-साहित्य का विकास हिन्दी के आविर्भाव के साथ बंद हो गया था। इस संदर्भ में जानने योग्य एक महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी के प्रारंभिक युग में पद्य के अतिरिक्त साहित्य की कोई दूसरी विधा स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हुई थी। नलिन विलोचन शर्मा ने कहा है, किसी भी नई भाषा की यह स्वाभाविक स्थिति होती है कि उसमें पहले पद्य की रचना होती है और बाद में गद्य तथा साहित्य के दूसरे रूपों का प्रादुर्भाव और विकास होता है। हिन्दी जैसे-जैसे परिपुष्ट और परिपक्व होती गई, वैसे-वैसे वह संस्कृत से या उसके काव्य से भिन्न अन्य साहित्यिक रूपों को उपलब्ध करती गई और कदाचित अब वह समय आ गया है कि हिन्दी संस्कृत के सारे अधिकार परंपरागत उत्तराधिकार के रूप में अधिगत कर ले।

कथा-कहानी का अस्तित्व मानव के अस्तित्व-काल से ही विद्यमान है। कहानी मनोरंजन तथा ज्ञान-वर्धन का सर्वाधिक सुगम और उपयुक्त साधन है। इसमें जिज्ञासा और कौतूहल के साथ ही मन को शान्ति पहुँचाने की अद्‌भूत शक्ति होती है। इसीलिए बच्चे से बूढ़े तक समान रूप से इसका आस्वाद लेते हैं। श्रीमद्‌भागवत (10.31.9)) में उल्लेख है कि कथा या कहानी संसार के दु:ख-ताप से दग्ध प्राणी के लिए अमृत के समान मधुर, पापनाशक तथा श्रवणमात्र से ही मंगलदायक एवं सुख-समृद्धि का कारक होती है। कथा-कहानी की सार्वभौम लोकप्रियता के कारण ही भारतीय कथाकारों ने, प्राचीन काल से ही, इस साहित्य-विधा को समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम ऋग्वेद में यम-यमी एवं पुरूरवा-उर्वशी के संवाद ही कथा के रूप में उपलब्ध होते हैं। वेदोत्तर काल में विभिन्न पुराणों, रामायण, महाभारत, बौद्धों की जातक-कथा, जैनों की आगम-कथा, पुन: 'वृहत्कथा' के नवोद्‌भावित रूप 'बृहत्कथाश्लोक संग्रह', कथासरित्सागर' बृहत्कथामंजरी', 'वसुदेवहिण्डी', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'बैतालपचीसी', 'सिंहासनबत्तीसी', शुकसत्पति' आदि में मानव-जीवन के विभिन्न आयामों से संबद्ध कथाओं का परिगुम्फन हुआ है। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' ने तो समग्र विश्व के कथा-साहित्य को प्रेरित-प्रभावित किया है। विशेषत: 'पंचतंत्र' का अनुवाद तो पहलवी, सीरियन अरबी, ग्रीक, लैटिन, अँगरेजी, फ्रेंच आदि अनेक भारतीयेतर भाषाओं में हुआ है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में, पश्चिम से संपर्क के परिणामस्वरूप भारत में अभूतपूर्व साहित्यिक जागरण आया। यह संपर्क जैसे-जैसे प्रगाद से प्रगाढतर होता गया, वैसे-वैसे हिन्दी-कथाविधा के स्वरूप में परिवर्त्तन होता गया। यह और बात है कि भारतेन्दु-युग के कहानी-लेखक संस्कृत-कथाओं की भाषा शैली का व्यामोह पूरी तरह नहीं छोड़ सके, फिर भी उन्होंने कहानियों के स्वरूप-विधान और उसके उद्देश्य से सर्वथा भिन्न पाश्चात्य कहानियों के स्वरूप-विधान के समानान्तर रचनाशीलता के प्रति आग्रहशील हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-कहानी का आदि स्वरूप सर्वप्रथम बिहार (आरा) वासी पं० सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' के साथ सैयद इंशा अल्ला खाँ के 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' तथा लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' में परिलक्षित होता है। ये तीनों महानुभाव हिन्दी के आदि गद्यकार भी हैं। इस आदि गद्यकार-त्रयी में मुंशी सदासुखलाल के नाम को जोड़कर गद्यकार चतुष्टयी की प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में दी है। मूलत: ये कहानीकार नहीं थे, वरन् पुराकथाओं के स्वच्छंद अनुवाद के उपस्थापक थे और उनकी उक्त कथाकृतियों में हिन्दी-कहानी के बीज को अवश्य ही लक्ष्य किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी-कहानी आधुनिक युग का अतिशय महनीय अवदान है, जिसका उदय हिन्दी-गद्य साहित्य में उपन्यास-साहित्य के बाद हुआ। हिन्दी-गद्य साहित्य के इतिहास में उस बिन्दु की खोज अत्यंत कठिन है, जिससे निकलकर हिन्दी-कहानी ने आधुनिक हिन्दी-कहानी का रूप धारण किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, कहानी कहने की प्रथा कोई नई नहीं है, परंतु 'कहानी' नाम की साहित्य-विद्या आधुनिक युग की देन है। यह भी मुद्रण-यंत्र आदि वैज्ञानिक उपकरणों और यतायात के नवीन साधनों की सहायता से विकसित होकर लोकप्रिय बना है।

भारतेन्दु-युग हिन्दी की प्राय: सभी साहित्यिक विद्याओं का उद्भव-काल है। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'- रचित 'राजा भोज का सपना', राधाचरण गोस्वामी का 'यमलोक की यात्रा' और स्वयं भारतेन्दु-लिखित 'एक अद्भूत अपूर्वस्वप्न' आदि कहानियाँ इसी युग की देन हैं। फिर भी, आधुनिक कहानी के लिए अपेक्षित तत्वों से रहित होने के कारण ये आधुनिक कहानी में परिगणित नहीं की जा सकतीं। वस्तुत:, आधुनिक कहानी का सही विकास-काल द्विवेदी-युग है, जिसकी प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1900 ई० में प्रकाशित अपनी कालोत्तीर्ण या कालजयी पत्रिका 'सरस्वती' के द्वारा सम्पन्न किया।

हिन्दी-कहानी के विकास की दृष्टि से 'प्रसाद-मण्डल' के प्रयास का ऐतिहासिक एवं क्रोशशिलात्मक मूल्य है। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के नौ वर्ष बाद सन् 1909 ई० में 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन हुआ, जिसने कहानी-साहित्य को एक सुनिश्चित शिल्प प्रदान किया। इसी पत्रिका में जयशंकर 'प्रसाद' की कहानी 'ग्राम' सन् 1911 ई० में प्रकाशित हुई, जिसे निर्विवाद रूप से हिन्दी की प्रथम साहित्यिक कहानी का गौरव प्रदान किया जा सकता है।

'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित कहानियों के माध्यम से आधुनिक कहानी-साहित्य की एक महत्वपूर्ण भूमिका तो अवश्य बनी, पर उसने किसी परम्परा का निर्माण नहीं

किया। आगे के काल में, उसे परंपरा का स्वरूप प्रदान करने के श्रेयोभागी मुंशी प्रेमचन्द्र हुए। उन्होंने इस परंपरा का निर्माण सन् 1916 ई० में, 'सरस्वती' में प्रकाशित अपनी कहानी 'पंचपरमेश्वर' द्वारा किया। यद्यपि इस प्रकार की कहानियाँ प्रेमचन्द के पूर्व भी लिखी गई थी। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह कृत 'कानों में कंगना' (सन् 1913 ई०), विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक- लिखित 'रक्षाबंधन' (सन् 1913 ई०) तथा पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी- लिखित 'उसने कहा था' (सन् 1915 ई०) उसी काटि की कहानियाँ हैं, जो प्रेमचन्द की ही परम्परा में परिगणित हुईं।

प्रेमचन्द कहानी-जगत् में अपनी कथा-प्रतिभा के प्रदीप्त एक ऐसे भाग्यशाली नक्षत्र के रूप में उदित हुए, जिन्हें आधुनिक हिन्दी-कहानी की परम्परा के प्रवर्त्तक बनने का ऐतिहासिक गौरव प्राप्त हुआ। साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में 'इन्दु' और 'सरस्वती' पत्रिका के नामों की इसलिए बार-बार और बराबर आवृत्ति होती रहेगी कि इन्होंने प्रसाद और प्रेमचन्द के रूप में कहानी के दो संस्थानों या 'स्कूलों' को जन्म दिया। इस स्कूल की कहानियों में आधुनिक कहानियों के तत्व और सिद्धांत का विनियोग तो हुआ ही, भारतीय जीवन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतिबिम्बन बड़े मनोहारी ढंग से किया गया।

इस स्कूल के कहानीकार कहानी-साहित्य की अनुल्लंघनीय मार्गनिर्देशक क्रोशशिला (माइल-स्टोन) हैं। प्रेमचन्द्र जी से तो कथा के क्षेत्र में प्रेमचन्द-युग ही स्थापित हो गया। प्रेमचन्द के पश्चात् जैनेन्द्र कुमार, अनूपलाल मण्डल, हिमांशु श्रीवास्तव, राधाकृष्ण आदि हिन्दी के सर्वाधिक प्रतिभावान कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने प्रेमचन्द-मण्डल और प्रसाद-मण्डल से भिन्न आस्वाद की कहानियाँ लिखीं।

प्रथम विश्व महायुद्ध के बाद हिन्दी-कहानी यथार्थ की ओर बढ़ने लगी। यथार्थवादी आंदोलन के संदर्भ में, सन् 1922 ई० में पं० बेचन शर्मा 'उग्र' एवं सन् 1928 ई० में जैनेन्द्र कुमार का आगमन हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में अपना विशिष्ट महत्व आयत्त करता है। इन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से एक नये क्षितिज का उद्घाटन किया। बिहार में इनके परवर्त्ती यथार्थवादी दृष्टि के लेखकों में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा तथा शिवचन्द्र शर्मा के नाम उल्लेख हैं।

द्वितीय विश्व-महायुद्ध यानी सन् 1939 ई० के बाद तो आदर्श की अपेक्षा यथार्थ और अति यथार्थ का चरित्र एवं आत्मविश्लेषण हिन्दी-कहानियों के अनिवार्य तत्व बन गये। इनमें कथावस्तु की अवधारणा किसी वैचरिक विशेषता या मनोवृत्ति अथवा जीवन के किसी विशेष पक्ष को उभारने की दृष्टि से होने लगी। फलतः ऐसी कहानियों में नैबन्धिक स्वरूपों के विन्यास के प्रति अधिक आग्रहशीलता बढ़ी।

स्वातंत्र्योत्तर अत्याधुनिक कहानीकारों ने तो राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय समस्याओं को लक्ष्य करके अपनी कहानियाँ लिखीं और इस कथा-धारा के प्रमुख पुरोधा हुए- मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, कमलेश्वर आदि। इनकी लिखी कहानियों को 'नई कहानी' की आख्या दी गई।

हिन्दी में आंचलिक कहानियों के विकास-स्तम्भ बने फणीश्वरनाथ 'रेणु', जिसका बीज आचार्य शिवपूजन सहाय की कथाकृति 'देहाती दुनिया' या फिर उनकी प्रसिद्ध कहानी 'भगजोगनी' या 'कहानी का प्लाट' में लक्षित होता है। रेणु की निर्धारित कथा-पद्धति पर अनेक कथाकारों ने जैसे अमृतराय आदि ने हिन्दी में आंचलिक कथाविद्या को ऐतिहासिक गरिमा और समृद्धि प्रदान की।

हिन्दी में 'साठोत्तरी' नाम से प्रचलित कहानियाँ 'नई कहानी' के ही उत्तर विकास है। इन कहानियों में आम आदमी की जीवनगाथाओं को अधिक मूल्य दिया गया है। हिन्दी-कहानी की विकास-यात्रा के इस विहंगावलोकन से स्पष्ट है कि हिन्दी में 'कहानी' शब्द का प्रयोग जिस साहित्य-रूप के लिए रूढ़ हो गया है, वह अब आधुनिक कथा-साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय, सशक्त एवं जीवन्त साहित्य-रूप है। सफल कहानी तो वही होती है, जो अनुरागपूर्वक स्वयं शय्या पर आई हुई नई वधू जैसी होती है। इसे ही संस्कृत-आलोचक इस प्रकार कहते हैं- 'रसेन शय्यास्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधू रिव।' अर्थात्, कहानी सरसता के साथ पाठकों के लिए सहज हृदयंगम हो जाय।

❑❑❑

शुभैषणा, श्रीनगर कॉलोनी, पंचवटी नगर के निकट, संदलपुर, पो०-महेन्द्रू, पटना-800 006, दूरभाष-0612-6590145

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की कविता और जन सरोकार

● उर्मिला शिरीष

निराला की कविताओं का विश्लेषण न जाने कितने सन्दर्भों में किया जा चुका है, लेकिन यहाँ निराला की कविताओं में जनसरोकार की बात की जा रही है, जो उनकी कविता का और कवि की संवेदना का मूल स्वर भी है।

निराला की कविता में आमजन की त्रासदी, संघर्ष और दु:ख को व्यक्त करने की अपार क्षमता है। वे राष्ट्रीयता के साथ-साथ सामाजिक जीवन की उन समस्याओं और विद्रूपताओं को अभिव्यक्ति दे रहे थे जिनके कारण सामान्य आदमी कष्टों में जीवन जी रहा था। प्रेम, प्रकृति, राष्ट्रीयता, दर्शन, विद्रोह, पीड़ा, व्यवस्थाओं के खिलाफ निर्भीक विरोध का स्वर और सत्य को कहने की दृढ़ता निराला की कविता में इतनी शिद्दत के साथ उभरी थी कि उन्हें जीवन की त्रासदियों को व्यक्त करने वाला कवि कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। संघर्ष और निराला एक दूसरे के पर्याय बन गये थे।

निराला अपने जीवन में अभाव और संघर्ष में लगातार रहे थे और उनसे लगातार जूझना उनकी नियति थी। निश्चय ही निराला को भूख, गरीबी, संघर्ष की çतीति रही होगी। महादेवी वर्मा अपने संस्मरण 'निराला' में लिखती हैं- ''आले पर कपड़े की आधी जली बÙी से भरा, पर तेल से खाली मिÍी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता लिए जल उठने का çयास कर रहा था।

उनकी कालजयी महान कविताओं, जैसे 'राम की शक्ति पूजा' में राम का अन्तर्द्वन्द्व है, तो 'सरोज की स्मृति' में एक पिता का दु:ख भरा आक्रोश है, तो 'जागो फिर एक बार' जैसी ओजस्वी कविता में सोये हुए को जगाने का भावबोध तो 'कुकुरमुत्ता' में गुलाब के बरक्स कुकुरमुत्ता को खड़ा करने की जिद है, तो 'वह तोड़ती पत्थर' में एकदम जमीनी हकीकत के बीच सड़क पर चलने वाले, काम करने वालों के प्रति गहरी करुणा और सहानुभूति का भाव है जिन्हें देखने की जहमत कोई नहीं उठाता है यानी इस कविता में

मजदूरों, मजदूर स्त्रियों की पीड़ा और संघर्ष है, तो वहीं 'भिक्षुक' कविता में भिखारी, गरीब भूखे और अशक्त लोगों के प्रति सहानुभूति और करुणा का गहरा मर्मान्तक भाव है जिन्हें प्रायः हमारा समाज घृणा की दृष्टि से देखता है।

सामन्यजन की आखिरी पंक्ति में खड़े समाज के ऐसे ही दो पात्र भिखारी और मजदूरिन की पीड़ा और संघर्ष को व्यक्त करती उनकी कविताओं 'भिक्षुक' और 'तोड़ती पत्थर' को यहाँ आधार बनाया है। इन दोनों ही कविताओं में तत्कालीन भारतीय समाज की उस स्थिति का पता चलता है जिसमें निम्न वर्ग अभावों और विषमताओं से जूझ रहा था। सामाजिक असमानता और आर्थिक दैन्यता का यह सजीव चित्र निराला की सोच यानी दीनों के प्रति उनकी संलग्नता और सहानुभूति के कितने करीब लगता है–

वह आता

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता

पेट–पीठ दोनों मिलकर हैं एक,

चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को

मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता। 1

गरीबी का आलम ये है कि मुट्ठीभर दाना भी उस भिक्षुक के पास नहीं है। आज भी स्टेशनों पर, मन्दिरों में, मस्जिदों में, सड़कों पर ऐसे हजारों भिक्षुक मिल जायेंगे, जो भूख के कारण चल भी नहीं पाते हैं और जिन्हें पेट भरने के लिए याचना करनी पड़ती है।

आगे निराला उस भिक्षुक की दुरावस्था को और भी दर्द भरे अन्दाज में लिखते हैं–

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,

बाँये से वे मलते हुए पेट को चलते

और दाहिना दया–दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये। 2

बच्चों की भी वही दुर्दशा है– एक हाथ उनका पेट पर होता है और दूसरा हाथ भीख के लिए फैला। भारत वंदना करने वाला कवि यथार्थ जीवन के इतने प्रभावशाली बिम्ब

खींचता है कि लगता है निराला ने भविष्य के भारत का भी चित्र खींच दिया था। क्या ये उनके व्यक्तिगत जीवन की, अभावग्रस्त जिन्दगी का एहसास नहीं था, जो कहीं न कहीं अवचेतन में रहा होगा? भूख-प्यास का यह कारुणिक, दिल दहला देने वाला बिम्ब–

भूख से सूख ओंठ जब जाते

दाता-भाग्य विधाता से क्या पाते?

घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते। 3

उनकी इस दुर्दशा का जिम्मेदार कौन है, निराला सवाल करते हैं क्या उनका भाग्य विधाता! भाग्य विधाता वो जिसने सारी पूँजी पर अपना कब्जा जमा लिया है और जो दाने-दाने के लिए उन्हें मोहताज बना देते हैं। यह आमजन ही निराला की कविता का नायक बन जाता है, ठीक वैसे ही जैसे 'कुकुरमुत्ता' दूसरे सन्दर्भों में नायक बन जाता है। यहाँ जानवर और इंसान भूख की भूमि पर एक साथ खड़े हैं–

चाट रहे जूठी पत्तल वे सभी सड़क पर खड़े हुए

और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी अड़े हुए। 4

यानी उन भिखारी बच्चों और कुत्तों की स्थिति एक समान है- कुत्तों को लगता है कि उस झूठन पर तो उनका एकाधिकार है, लेकिन जब वे देखते हैं कि उनकी जूठन कोई और उठाकर खा रहा है तो वे झपट्टा मारने के लिए चौकस खड़े हो जाते हैं।

यह कविता एक 'महासच' यानी भारत के निम्न वर्ग की महात्रासदी का यथार्थ चित्र है। कविता जीवन के महावैषम्य को उजागर करती है कि भूख का अपना कोई वर्ग नहीं होता, वर्ण नहीं होता, लिंग नहीं होता, धर्म नहीं होता, जाति नहीं होती बल्कि भूख-प्यास सबमें समान रूप में होती है, सबके लिए समान होती है चाहे वह इंसान हो या जानवर।

निराला अपने जीवन में अभाव और संघर्ष में लगातार रहे थे और उनसे लगातार जूझना उनकी नियति थी। निश्चय ही निराला को भूख, गरीबी, संघर्ष की प्रतीति रही होगी। महादेवी वर्मा अपने संस्मरण 'निराला' में लिखती हैं- ''आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता लिए जल उठने का प्रयास कर रहा था। रसोईघर में दो-तीन अधजली लकडियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी-सी गठरी आदि मानो उपवास-चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।''5

निराला ने अपने जीवन में जो देखा और भोगा था उसकी गहरी पीड़ा उनके भीतर थी। उस पीड़ा से वह संतप्त थे। यही कारण है कि वे समाज के ऐसे उपेक्षितों पर लिखते रहे जिन्हें अनदेखा किया जाता रहा। उनकी 'तोड़ती पत्थर' कविता भी ऐसी ही महान कविता है जो मजदूर वर्ग का यथार्थ बिम्ब रचती है, यानी यहाँ भी निराला वर्गभेद और सामाजिक विषमता की कुरूपता को रेखांकित करते हैं–

वह तोड़ती पत्थर

देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर

वह तोड़ती पत्थर!

कोई न छायादार

पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,

श्याम तन, भर बँधा यौवन

नत नयन, प्रिय कर्म-रत मन,

मुख हथौड़ा हाथ,

करती बार-बार प्रहार

सामने तरु मालिका अट्टालिका, प्राकार! 6

निराला मजदूर स्त्री के जीवन के इस कठोर श्रम को रेखांकित करते हुए उसकी अवस्था का चित्र खींचते हैं - जिसमें उसकी उम्र, उसकी युवावस्था और उस अवस्था में भारी-भरकम हथौड़ा उठाकर बार-बार प्रहार करने का प्रयास करती है। यह प्रयास उसे संघर्ष के पथ पर खड़ा कर देता है। निराला ने अपने जीवन में कभी पराजय स्वीकार नहीं की, उसी प्रकार उनकी कविताओं के पात्र भी निरन्तर संघर्ष करने, काम करने में विश्वास करते हैं न कि पलायन करते हैं-

बढ़ रही थी धूप

गर्मियों के दिन

दिवा का तमतमाता रूप

उठी झुलसती सी लू

रुई ज्यों जलती हुई भू

गर्द चिनगी छा गयी

प्रायः हुई दुपहर

वह तोड़ती पत्थर। 7

जेठ की तपतपाती दोपहरी में वह युवा मजदूर औरत अपने काम में लगी हुई है, क्योंकि उसके सामने भी अर्थ संकट है। भूख का सवाल है। लेकिन उसके मन में भी उन ऊँची अट्टालिकाओं के प्रति कोई न कोई भाव जरूर है, जो उस जैसी हजारों मजदूरों के श्रम से बनकर खड़ी है, मगर उनमें उनके लिए कोई जगह नहीं है। वे दूर से ही देखी जा सकती हैं–

देखते देखा मुझे तो एक बार

उस भवन की ओर देखा, छिन्न तार,

देखकर कोई नहीं

देखा मुझे उस दृष्टि से

जो मार खा रोई नहीं

सहज सजा सितार,

सुनी मैंने वह, नही जो थी सुनी झंकार।

एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर

ढुलक माथे से गिरे सीकर

लीन होते कर्म में फिर यों कहा–

मैं तोड़ती पत्थर। 8

पत्थर तोडना़ उसकी नियति है, विवशता है, क्योंकि इसके अलावा वह कोई कर्म कर ही नहीं सकती। पत्थर नहीं तोड़ेगी तो भूख से मरेगी। भूख से यूँ बैठे-बैठे मरना उसे स्वीकार नहीं। उसके जीवन को समाज द्वारा इसी साँचे में बाँध दिया गया है। जैसा कि निराला 'सरोज स्मृति' में लिखते हैं–

दुख ही जीवन की कथा रही

क्या कहूँ आज, जो नहीं कही। 9

जीवन में दु:खों का अन्तहीन सिलसिला निराला को अपने ही जीवन में नहीं, सामान्य लोगों में भी महसूस होता था। उनका अपना दु:ख, अभाव, संघर्ष, उपेक्षा सार्वभौम हो उठा था। अपनी पुत्री सरोज का दु:ख ही उन्हें नहीं रुलाता था, मजदूर स्त्री का दु:ख भी उन्हें रुलाता था, उद्वेलित करता था। वरना सड़क पर पत्थर तोड़ती स्त्री किसी के लिए क्या मायने रखती है? कवि-आलोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के शब्दों में- ''निराला का सम्पूर्ण काव्य उनके संघर्षमय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उसे कविता समझने वाले लोग अन्त तक भ्रम में पड़े रहेंगे। निराला ने अपने जीवन में जिन संघर्षों को झेला था, उनकी कविता उन्हीं संघर्षों की कहानी है। उन्होंने केवल कविता लिखी ही नहीं, वरन उसे जिया भी था। उनकी कविताओं में जो सामाजिक और यथार्थ दृष्टि तथा जीवन सम्पृक्ति प्राप्त होती है, वह उनके जीवन की ही उपज है।''10

1921 में लिखी 'भिक्षुक' तथा 1935 में लिखी 'तोड़ती पत्थर' के बीच उनकी कविताओं में कोई अन्तर इसलिए नहीं आया क्योंकि समाज में कोई बदलाव नहीं आया था। इसीलिए निराला 'भिक्षुक' लिखकर फिर आम गरीब आदमी के संघर्ष को 'वह तोड़ती पत्थर' के माध्यम से व्यक्त करते हैं। आर्थिक-सामाजिक विषमताओं का इतना कारुणिक विद्रूप रूप निराला की इन दो कविताओं में देखने को मिलता है।

निराला की इन दो कविताओं को पढ़ते हुए उनके उस महान कवि की पक्षधरता और प्रतिबद्धता का पता चलता है, जो हर हाल में हाशिए पर पड़े गरीब, अभावग्रस्त, समाज द्वारा उपेक्षित संघर्षशील लोगों की पीड़ा को संसार के सामने रखना चाहता था।

सन्दर्भ:

1. भिक्षुक, अपरा, पृ.-66.
2. वही.
3. वही.
4. वही.
5. निराला, महादेवी वर्मा, गद्य संकलन, पृ.-57.
6. तोड़ती पत्थर, अपरा, पृ.-26.

7. वही, पृ.-26.

8. वही, पृ.-27.

9. सरोज स्मृति, अपरा, पृ.-56.

10. आधुनिक हिन्दी कविता, विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ.-33-34.

❑❑❑

ई-115/12, शिवाजी नगर, भोपाल-462003, मो. 093031-32118

वरिष्ठ साहित्यकार रॉबिन शॉ पुष्प का 30 अक्टूबर को देहावसान हो गया। वे अस्सी वर्ष के थे। आजीवन स्वतंत्र लेखन करते हुए उन्होंने साहित्य की अमूल्य सेवा की। वे आम आदमी के सुख, दुख, प्रेम और संघर्ष के लेखक रहे। उनकी पचास से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं। उपन्यास, कहानियां, कविताएं, लेख, नाटक और बाल साहित्य सभी विधाओं पर उन्होंने कलम चलाई। 'अन्याय को क्षमा', 'दुल्हन बाजार' जैसे उपन्यास, 'अग्निकुंड', 'घर कहाँ भाग गया' कहानी संग्रह और फणीश्वर नाथ रेणु पर लिखी संस्मरण पुस्तक 'सोने की कलम वाला हिरामन' उनकी चर्चित कृतियाँ हैं। पुष्प जी ने कई डॉक्यूमेंटरी फिल्में भी बनाईं और कुछ फिल्मों के लिए पटकथाएँ भी लिखीं। उनकी कई कहानियों का अंग्रेजी सहित कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी हुआ जो पाठकों के द्वारा सराहा गया। इसी वर्ष सात खंडों में रॉबिन शॉ पुष्प रचनावली प्रकाशित हुई। उन्हें बिहार राष्ट्रभाज़ा परिषद का शिवपूजन सहाय विशेष साहित्य सेवा सम्मान, फणीश्वरनाथ रेणु पुरस्कार, मसीही हिन्दी साहित्य रत्न सम्मान जैसे अनेक पुरस्कार और सम्मान से विभूषित किया जा चुका था। साहित्य यात्रा परिवार उनके प्रति हार्दिक श्रद्धासुमन अर्पित करता है।

शिक्षक, भाषा और भविष्य

● डॉ. रवि शर्मा

भाषा का मौखिक या कथित रूप तो बालक घर पर ही सीख लेता है, किंतु उसका पठित, लिखित तथा औपचारिक रूप तो विद्यालय में ही सीखता है। ऐसे में, विद्यालय (वह भी प्राथमिक विद्यालय) तथा शिक्षक (वह भी प्राथमिक शिक्षक) की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। भारत की यह विडंबना ही है कि यहा प्राथमिक शिक्षा तथा प्राथमिक शिक्षक ही सर्वाधिक उपेक्षित एवं तिरस्कृत हैं।

भाषा मनुष्य के भावों और विचारों की सहज अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाव और विचार मनुष्य में जन्मजात होते हैं, किंतु उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम जन्मजात और परिवेशगत दोनो होता है। बच्चा सर्वप्रथम अपनी माँ से जो भाषा सीखता है, वही मातृभाषा उसकी अपनी भाषा होती है। कई बार ऐसा भी होता है कि किसी कारणवश बच्चा पैदा होते ही अपनी माँ से तथा अपने परिवार से अलग हो गया। अब वह जिस परिवेश में रहेगा, वहीं की भाषा सीख जाएगा; जैसा कि मोगली नामक एक चरित्र के साथ दिखाया गया। वह पैदा होते ही पशुओं के साथ रहा, उन्हीं की तरह व्यवहार करने लगा, उन्हीं की बोली बोलने लगा; लेकिन जैसे ही वह मनुष्यों के संपर्क में आया, उसकी जन्मजात मानवीय प्रवृत्तियाँ तथा भाषायी संस्कार ज़ोर मारने लगते हैं तथा वह कुछ ही समय में मानव समाज के अनुरूप जीवन यापन करने लगता है। उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो ही गया है कि भाषा तथा मानव का आदिम एवं गहन संबंध है। बिन भाषा के मानव भी अधूरा है, उसके विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। याद रखिए मूक-बधिर भी अपनी सांकेतिक भाषा से अपने भावों और विचारों का आदान-प्रदान बखूबी करते हैं। बच्चे की प्रथम भाषा उसकी मातृभाषा ही होती है, जो वह अपनी माँ से सीखता है तो स्वाभाविक रूप से बच्चे की प्रथम गुरु भी माँ ही होती है। माँ से प्राप्त भाषायी संस्कार ही बच्चे के भावी जीवन, उसके भावी व्यक्तित्व तथा भविष्य में उसकी सफलता-असफलता की नींव होते हैं। इन्हीं भाषायी संस्कारों की नींव पर बालक का

व्यक्तित्व-प्रासाद निर्मित होता है। हम सब जानते हैं कि नींव जितनी ही सुदृढ़ होगी, भवन भी उतना ही स्थायी तथा सशक्त होगा। माता तथा घर-परिवार से प्राप्त इन भाषायी संस्कारों का विद्यालय में विकास एवं उन्नयन होता है। भाषा का मौखिक या कथित रूप तो बालक घर पर ही सीख लेता है, किंतु उसका पठित, लिखित तथा औपचारिक रूप तो विद्यालय में ही सीखता है। ऐसे में, विद्यालय (वह भी प्राथमिक विद्यालय) तथा शिक्षक (वह भी प्राथमिक शिक्षक) की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। भारत की यह विडंबना ही है कि यहाँ प्राथमिक शिक्षा तथा प्राथमिक शिक्षक ही सर्वाधिक उपेक्षित एवं तिरस्कृत हैं। उनका वेतन कम है तथा जिम्मेदारियाँ अनगिनत; सरकारी स्कूल में वरदी, किताब-कापियाँ, दोपहर का भोजन बाँटना, जनगणना कार्य, चुनाव ड्यूटी, मतदाता पहचान पत्र बनाना आदि। पब्लिक स्कूल में यह माना जाता है कि प्राथमिक कक्षाओं को तो कोई भी पढ़ा सकता है। सरकारी विद्यालय हो या पब्लिक स्कूल प्राथमिक शिक्षक के चयन, पदोन्नति, मान-सम्मान अर्थात् सभी स्तरों पर घोर अन्याय एवं भेदभाव किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप ये शिक्षक भी अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करने लगें तो आश्चर्य कैसा? क्योंकि ताली एक हाथ से नहीं बजती। प्राथमिक कक्षा में दिए गए भाषायी संस्कार तथा इस दौरान विकसित किए गए भाषायी कौशल ही बच्चे के समस्त विषयों के अध्ययन की धुरी होते हैं। आप ही बताइए कि जिस बच्चे को अपनी बात सही ढंग से बोलनी नहीं आती; शुद्ध, सुंदर तथा सटीक शब्दों में लिखनी नहीं आती, क्या वह इतिहास, भूगोल, राजनीति विज्ञान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव विज्ञान आदि को ठीक से पढ़ और लिख सकेगा? कदापि नहीं। प्रत्येक विषय की अभिव्यक्ति का माध्यम तो भाषा ही होती है, यदि भाषा पर ही बालक का अधिकार न हुआ, तो वह निश्चित रूप से ज्ञान के सभी क्षेत्रों में पिछड़ता चला जाएगा। विश्व के सभी शिक्षाशास्त्री, बाल मनोवैज्ञानिक, भाषा वैज्ञानिक तथा अन्य विद्वान इस विषय पर एकमत हैं कि बच्चे का स्वाभाविक बौद्धिक विकास, विशेषकर उसकी प्रारंभिक 10-12 वर्ष की आयु तक, उसकी मातृभाषा में ही संभव है। इसीलिए विश्व के सभी देशों में प्राथमिक शिक्षा बच्चों की मातृभाषा के ही माध्यम से दी जाती है। हमारा 'महान' दशष्ठा इस दिशा में सचमुच अपवाद है। लार्ड मैकाले ने भारतीयों को 'काले अंग्रेज' बनाने की जो योजना सन् 1835 में बनाई थी, वह अंग्रेजों के शासनकाल में जितनी फलीभूत हुई, उससे कहीं ज्यादा उनके जाने के बाद हुई है। अंग्रेज अपने लंबे शासन काल में प्राथमिक शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे। कुछ गिने-चुने ईसाई मिशनरी कॉन्वेंट स्कूलों के अतिरिक्त वे इसे अन्य सरकारी तथा गैर सरकारी स्कूलों में लागू नहीं कर पाए, किंतु मैकाले की नीति लगभग 150 वर्षों बाद उसके द्वारा तैयार 'काले अंग्रेजों' के वंशजों ने लागू कर दिखाई। पिछले दो-तीन दशकों में अंग्रेजी माध्यम के निजी (अंग्रेजी के 'पब्लिक' शब्द का यह भारतीय अर्थ है) स्कूलों

की बाढ़ आ गई। महानगरों से निकलकर नगरों, कस्बों और गाँवों की गलियों तक ये स्कूल कुकुरमुत्तों की तरह उग आए। इन स्कूलों का एक ही आकर्षण था 'अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा'। विदेशी भाषा के माध्यम से यह शिक्षण इस देश के नौनिहालों के लिए कितना हानिकारक, अवैज्ञानिक तथा बोझिल होगा, इसकी चिंता न तो तथाकथित शिक्षाशास्त्रियों ने की, न पैसा कमाने की दुकान चलाने वाले स्कूल प्रबंधकों ने। और बेचारे आम भारतीय अभिभावक को तो इन सब बातों का पता ही नहीं था। उसे तो बस एक ही बात समझ आई कि अंग्रेजी में गिटपिट करने वालों को ही भारतीय समाज में मान-सम्मान तथा पैसा मिलता है। इसलिए वे शामिल हो गए इस 'शार्टकट' को अपनाने की अंधी दौड़ में। हमारी सरकार की कुंभकर्णी नींद तब खुली, जब सरकारी स्कूलों में प्रवेश पाने वालों की संख्या में भारी कमी आने लगी। सरकारी स्कूल बंद होने के कगार पर पहुँचने लगे। समस्या की सरकारी ढंग से जाँच हुई और सरकारी समाधान सुझाया गया कि चूँकि पब्लिक स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई होती है तथा वहाँ अंग्रेजी पहली कक्षा से ही पढ़ाई जाती है, इसीलिए वहाँ का शिक्षास्तर अच्छा है। यही कारण है कि हर कोई अपने बच्चे को पब्लिक स्कूल में पढ़ाना चाहता है। अतः उन्होंने सुझाव दिया कि सरकारी स्कूलों में भी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी किया जाए तथा वहाँ भी पहली कक्षा से ही अंग्रेजी पढ़ाई जाए। यह सुझाव बिलकुल वैसा ही था जैसे किसी नेत्रहीन व्यक्ति को गड्ढे में गिरते देखकर सरकार उसे रोकने के प्रयास करने के स्थान पर सरकारी कर्मचारियों की आँखों पर पट्टी बाँधने तथा सरकारी कार्यालयों में जगह-जगह गड्ढे खुदवाने का आदेश दे दे। सरकार को अपने स्कूलों की हालत सुधारने के लिए दिया गया सुझाव पसंद आया। दिल्ली सहित अनेक राज्यों ने इसे अपनाना शुरू कर दिया। बजाए इसके कि सरकार पब्लिक स्कूलों को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने के स्थान पर मातृभाषा में पढ़ाने को कहती तथा अंग्रेजी को पहली कक्षा से पढ़ाने से मना करती, वह खुद ही अपने स्कूलों में वही गलती दोहराने लगी। बच्चे अपनी मातृभाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा छोड़कर विदेशी भाषा के माध्यम से 'तोता रटंत' शिक्षा ग्रहण करने लगे। छोटे बच्चों पर अंग्रेजी विषय तथा अंग्रेजी माध्यम थोपने का दुष्परिणाम यह हुआ कि इन बच्चों की बहुत सी ऊर्जा जो विषय को समझकर मौलिक रचनात्मक कार्य करने में लगनी चाहिए थी, वह ऊर्जा अंग्रेजी रटने में बर्बाद होने लगी। नोबल पुरस्कार प्राप्त प्रोफेसर सी.वी. रमण ने स्पष्ट रूप में कहा था कि यदि भारत में विज्ञान मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाया गया होता, तो आज भारत दुनिया के अग्रगण्य देशों में होता। (उद्धृत पृ.66, ग्लोबल हिंदी, लेखक डॉ. रवि शर्मा) अपनी भाषा से बच्चों को काटने के हानिकारक प्रभाव लगभग दो दशकों बाद अब धीरे-धीरे दिखाई देने लगे हैं। अपनी भाषा से कटी हुई आज की पीढ़ी केवल अपनी भाषा से ही नहीं कटी, वह अपने माता-पिता, घर-परिवार, रिश्ते-नाते, पर्व-त्योहार, सभ्यता-संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन

से भी कटती चली जा रही है। आज हिंदी भाषी प्रदेशों के पब्लिक स्कूलों में पढ़े बच्चे भी अड़तीस, चौंसठ, उनहत्तर आदि सुनकर हक्के-बक्के रह जाते हैं। वे भीम को भीमा, भीष्म को भीष्मा, वेदों को वेदाज़ कहने में गर्व महसूस करते हैं। राम, कृष्ण, अशोक, योग आदि में 'आ' लगाकर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। वे एक पूरा वाक्य शुद्ध हिंदी में नहीं बोल पाते, उसमें कई अंग्रेजी शब्दों की छौंक लगा देते हैं। इतना ही नहीं, सभी सरकारी तथा गैर सरकारी प्रयासों के बाद भी, वे व्याकरणसम्मत शुद्ध अंग्रेजी भी बोल या लिख नहीं पा रहे। जबकि मेरे पिता जी जो केवल मैट्रिक पास थे, इतनी अच्छी अंग्रेजी, हिंदी, संस्कृत तथा उर्दू जानते थे कि बी.ए. स्तर के विद्यार्थियों को भी ये भाषाएँ पढ़ा सकते थे।

आज भारतीय समाज में सर्वाधिक उपेक्षित हैं भारतीय भाषाएँ तथा उनके शिक्षक। यानी बच्चोंके चरित्र निर्माण, उनके व्यक्तित्व विकास का उत्तरदायित्व जिन दो तत्त्वों पर निर्भर था, वे दोनों ही आज उपेक्षित, उदास तथा हताश हैं। माता-पिता भौतिक सुविधा के साधन जुटाने के लिए आवश्यक प्रभूत धन को कमाने के लिए दिन-रात एक किए हुए हैं। पहले भारत में परिवार का एक पुरुष कमाता था और 8-10 बच्चों–बड़ों का भरा-पूरा परिवार आसानी से खाता था। आज परिवार के स्त्री-पुरुष दोनों कमा रहे हैं, लेकिन एक या दो बच्चों के अपने छोटे से परिवार की आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पा रहे, क्योंकि आवश्यकताएँ सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती ही जा रही हैं। बिजली का बिल ही 5-7 हजार रुपए महीने का आने लगा है; पैट्रोल, टेलीफोन, मोबाइल, ब्रांडेड कपड़े-जूते आदि के तो कहने ही क्या! इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धन कमाने की होड़ में लगे माता-पिता यह भूल रहे हैं कि उनका असली धन तो उनके बच्चे हैं, जिन्हें वे आया या नौकर के हाथों में पलने के लिए छोड़ देते हैं। वहाँ से उन्हें कैसी भाषा मिलेगी? कैसे संस्कार मिलेंगे? टी.वी. और इंटरनेट उनका विकास करेंगे या विनाश? क्या वे बच्चे बड़े होकर अपने माता-पिता का सम्मान करेंगे? क्या वे बुढ़ापे में उनका सहारा बनेंगे? कदापि नहीं, क्योंकि व्यक्ति जो बोता है वही तो काटता है। हम अपने बहुमूल्य हीरे खोकर काँच के टुकड़े एकत्र करके खुश हो रहे हैं। वाह! कितने समझदार हैं हम! आज के इस आपा-धापी के युग में सब कुछ जल्दी चाहिए। इसीलिए भाषा भी लगातार सिमटती और सिकुड़ती जा रही है। संक्षिप्तियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। इसका सबसे सटीक उदाहरण एस.एम.एस. की भाषा है, जो वर्तनी को तोड़-मरोड़ रही है, शब्दों को खा रही है, वाक्यों को हज़म कर रही है। सी.पी. (क्नाटप्लेस), डैफ कॉल (डिफेंस कॉलोनी), जी. के. (ग्रेटरकैलाश) के.एन. (कमला नगर) आदि जगहों के नाम तो आपने सुने ही होंगे। इसी प्रकार व्यक्तिगत नामों में भी यही संक्षिप्तता और लिखने में भी शार्टकट। इससे भाषा का सहज रूप विकृत हो रहा है। भारतीय भाषाओं और उनके शिक्षकों की निरंतर उपेक्षा

का परिणाम यह निकला कि विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय स्तर पर इन्हें पढ़ने और पढ़ाने वालों की संख्या और गुणवत्ता में लगातार कमी हो रही है। भाषा के अंतर्गत पढ़ाए जाने वाले साहित्य से व्यक्तित्व में जिन मानवीय गुणों, कल्पनात्मकता, सर्जनात्मकता आदि का विकास होता था, मानवीय संबंधों तथा सामाजिक स्थितियों और समस्याओं की समझ विकसित होती थी, उसमें बाधा उत्पन्न हुई है। आज शिक्षा का उद्देश्य चरित्र विकास, मानवीय मूल्यों का संप्रेषण आदि नहीं रह गया है। आज की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है खुद अधिकाधिक पैसा कमाना तथा बच्चों को पैसा कमाने में सक्षम बनाना। जो विषय, जो पाठ्यक्रम, जो संस्थान या जो शिक्षक विद्यार्थियों को जितना अधिक पैसा कमाने में सक्षम बनाएगा, उसकी उतनी ही अधिक माँग होगी। यही कारण है कि आज भौतिक विज्ञान, रसायन या जीव विज्ञान, चिकित्सा, भाषा, इतिहास, राजनीति विज्ञान आदि।

विषयों की उतनी माँग नहीं है, जितनी वाणिज्य, इंजीनियरिंग, प्रबंधन जैसे 'कमाऊ' विषयों की। 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपैया' वाली अपसंस्कृति के लिए हम स्वयं अपने बच्चों को तैयार कर रहे हैं, उनमें भाषा तथा मानवीयता के संस्कार नहीं डाल रहे, तो कल जब वे अपने माता-पिता को बोझ मानने लगें, भ्रष्टाचार-बेईमानी को अपना लें, तो हाय-तौबा क्यों? मातृभाषा को माँ समान मानने तथा गुरु को भगवान से भी बढ़कर मानने वाले विश्व गुरु भारत की वर्तमान नीति क्या आपको उचित लगती है? अपनी भाषाओं और शिक्षकों की उपेक्षा करके क्या हम एक स्वर्णिम भविष्य की ओर बढ़ रहे हैं या पतन के गहरे गर्त में गिरने जा रहे हैं? इस सबके लिए उत्तरदायी कौन होगा? हमारे बच्चे या स्वयं हम? सोचिए, समझिए और विवेक से उचित निर्णय लीजिए। उस निर्णय को लागू करने के लिए कठोर कदम उठाइए। नेताओं तथा नीति निर्धारकों को सही दिशा में बढ़ने के लिए प्रेरित तथा विवश कीजिए। तभी हम सच्चे अर्थों में कह पाएँगे मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव।

❑❑❑

एसोसिएट प्रोफेसर एवं प्रभारी, हिंदी विभाग, श्री राम कॉलेज ऑफ कॉमर्स दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7
निवास: सुर-सदन, डब्ल्यू. जेड. 1987, रानी बाग, दिल्ली-110034 मो. 9811036140

साम्राज्यवाद का नया अर्थशास्त्र है आज का मीडिया

● डॉ. हरीश अरोड़ा

भूमण्डलीकरण की आँधी के बीच जिस तरह से एक नयी पूँजीवादी सभ्यता ने पूरी दुनिया पर अपना आधिपत्य जमा लिया उससे दुनिया का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा। दुनिया के तमाम संसाधनों पर इस नए पूँजीवाद ने बाज़ार की शक्ल में इंसान की बुनियादी जरूरतों के साथ-साथ उसके ज्ञान और विचार के केन्द्र पर भी अपना कब्जा ज़मा लिया है। अब कला के मापदण्ड उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति में नहीं बल्कि बाज़ार में उसे बेच पा सकने की एजेंडा सैटिंग में महारथ हासिल करने में है। ऐसे में जब दुनिया के सामने इस नयी साम्राज्यावादी अर्थतंत्रात्मक शक्ति से संघर्ष कर पाने में असफलता हाथ लगने लगी और दुनिया की हर सोच इसी के इर्द-गिर्द सिमट कर रह गयी तब मीडिया इससे कैसे अछूता रह सकता था।

एक दौर था जब इंसान दुनिया की तस्वीर को मीडिया के नज़रिए से देखकर अपनी ज़िन्दगी के फ़लसफ़े को नया आकार देता था। उसकी ज़िन्दगी का समूचा ताना-बाना समाचार-पत्रों और दूरदर्शन के दिखाए गए सच के विश्वास पर बुना गया था। लेकिन वही इंसान आज बाज़ार के कब्जे में कसमसाते मीडिया के नज़रिए से ही दिखायी जा रही वर्चुअल दुनिया को ही अपनी दुनिया समझ बैठा है। वह स्वयं अपनी ज़िन्दगी की विसंगतियों में इतना उलझ चुका है कि उसे किसी ओर के विसंगति बोध से कोई सरोकार नहीं रहा। दरअसल उसकी इस स्थिति का कारण बदलता हुआ परिवेश नहीं बल्कि उस परिवेश में उसकी मानसिकता पर अपना अधिकार जमा चुका बाज़ारवाद है। जो उसने अपनी आँखों से नहीं बल्कि मीडिया के चश्में से देखकर स्वयं अपने ऊपर लाद दिया है।

पश्चिमी बाज़ारवाद ने भारतीय तथा तीसरी दुनिया के अन्य देशों के मीडिया पर अपना कब्जा ज़माने के लिए अपनी कुन्द पड़ चुकी तकनीक को इन देशों को बेचना आरम्भ कर दिया। सस्ती और नयी प्रौद्योगिकी के चलते मीडिया के क्षेत्र में सैंकड़ों पत्र-पत्रिकाओं, टेलीविजन चैनलों की बाढ़-सी आ गयी।

दरअसल एक समय था जब पत्रकारिता को मिशन की पत्रकारिता कहा जाता था। उस दौर में 'सम्पादक' केवल एक व्यक्ति नहीं था बल्कि वह एक संस्था था। तब सामाजिक जीवन और उसकी विसंगतियों से जूझने के लिए पत्रकार की कलम किसी के द्वारा प्रायोजित नहीं होती थी। पत्रकारिता एक गम्भीर विधा थी और पत्रकार समाज का सजग प्रहरी। लेकिन बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में भूमण्डलीकरण के आगमन के चलते बाज़ारवाद ने पत्रकारिता को एक उद्योग में तब्दील कर दिया। सत्ता के दबाव के समक्ष न झुक पाने वाले मीडिया ने बाज़ार की चुनौतियों के सामने अपने घुटने टेक दिए।

यहाँ एक बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि समाज में बाज़ार पहले से मौजूद नहीं था। लेकिन वैश्वीकरण की आँधी ने बाज़ार की अवधारणा को ही बदल दिया। पश्चिम की भोगवादी संस्कृति से उपजा यह नया बाज़ारवाद वास्तव में तीसरी दुनिया के देशों के बाज़ार पर अपना आधिपत्य जमाने का एक माध्यम बना। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण आधार बना मीडिया। पूँजीवादी शक्तियों द्वारा जब तीसरी दुनिया के देशों को अपने सामने झुकाने का प्रयास विफल रहा तो उन शक्तियों ने मीडिया के द्वारा तीसरी दुनिया के देशों पर सांस्कृतिक आक्रमण आरम्भ कर दिए। जिसके परिणामस्वरूप श्रेष्ठ संस्कृतियों को संजोए तीसरी दुनिया के देश बाज़ार के दबाव के सामने टिक न सके और नयी पूँजी से उपजी भोगवादी संस्कृति के आकर्षण में घिर गए और इस तरह आदर्शों, सर्वश्रेष्ठ मूल्यों और व्यापक जीवनदृष्टि से आप्त भारतीय पत्रकारिता बाज़ार के एजेंडे पर चलने लगी।

दरअसल बाज़ार का अपना एक नियम है। वह वस्तुओं की माँग और उसकी आपूर्ति से संचालित होता है। जैसे-जैसे किसी वस्तु की माँग बढ़ती है वैसे-वैसे ही उसकी आपूर्ति भी बढ़ती जाती है। किसी वस्तु की माँग बढ़ने का आधार यह भी है कि वह वस्तु जितनी सस्ती होगी वह उतनी अधिक बिकेगी इस तरह माँग और आपूर्ति के सिद्धांत पर बाज़ार चलता है। इसी नियम के आधार पर ही पश्चिमी बाज़ारवाद ने भारतीय तथा तीसरी दुनिया के अन्य देशों के मीडिया पर अपना कब्जा ज़माने के लिए अपनी कुन्द पड़ चुकी तकनीक को इन देशों को बेचना आरम्भ कर दिया। सस्ती और नयी प्रौद्योगिकी के चलते मीडिया के क्षेत्र में सैंकड़ों पत्र-पत्रिकाओं, टेलीविजन चैनलों की बाढ़-सी आ गयी।

इस तरह बाज़ार ने मीडिया के क्षेत्र में प्रतियोगिता की सम्भावनाओं को जन्म दिया और सैंकड़ों पत्रकारों, सम्पादकों और प्रबन्धकों की बड़ी-सी जमात खड़ी हो गयी। लेकिन इनके सामने भी उस प्रतियोगिता के दौर में टिके रहने का सवाल था। ऐसे में सामाजिक प्रतिबद्धता और शुचिता के मूल्यों पर टिकी पत्रकारिता में समझौतावादी संस्कृति का उदय हुआ। मीडिया सामाजिक हितों की चौपाल से कॉरपोरेट घरानों की आलीशान इमारतों में कैद हो गया। सत्ता और व्यवस्था के पक्षधरों के लिए इस मीडिया को अपनी शक्ति और

राजनीति की चकाचौंध-भरी दुनिया दिखाकर अपना हित साधने का बेहतर अवसर मिला और इस तरह वर्तमान में भारतीय मीडिया पूरी तरह से बाज़ार के कब्जे में आ गया।

ऐसे में पत्रकारिता का चरित्र अपनी शुचिता को बचाए रखने के लिए संघर्ष करने लगा। सम्पादक नाम की संस्था अब कॉरपोरेट घरानों के खूबसूरत चैम्बरों में बैठे मालिकों के हाथ का खिलौना बन गयी। सम्पादक की विचारणा और उसकी चेतना का स्तर जो किसी समाचार-पत्र की पहचान थे वे मालिक की पूँजीवादी विचारधारा के तले कहीं दब गए। अब पत्रकार के लिए जीवन की विडम्बनात्मक परिस्थितियों के बीच जाकर सूचना को एकत्र करना इतना अधिक मायने नहीं रखता जितना पाठकों और दर्शकों के मनोविज्ञान के अनुरूप सूचनाएँ क्रिएट करना। 'पब्लिक डिमांड' के फलसफे पर चलते हुए मीडिया ने भी माँग और आपूर्ति के सिद्धांत को अपना लिया। सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ अब मीडिया के लिए संवेदना का आधार नहीं वरन् बाज़ार में अपने को स्थापित रख पाने के अर्थशास्त्र का नया सिद्धांत बन गयीं।

लेकिन इसके लिए सिर्फ बाज़ारवाद को दोष देना ही काफी नहीं है। जिस दौर में मीडिया कॉरपोरेट घरानों में तब्दील होता जा रहा था और उसने सत्ता पर बैठे लोगों के साथ हाथ मिला लिये, ऐसे में सत्ता के प्रतिपक्ष की सशक्त भूमिका न होने के कारण भी पत्रकारिता की धार धीमी पड़ गयी। कमज़ोर विपक्ष के चलते ही मीडिया के मालिकों ने सत्ता के साथ अपने समझौते की बिसात पर समूची पत्रकारिता को ही बाज़ार के हाथों बेच दिया। और इस तरह सम्पादक नाम की संस्था केवल एक व्यवस्था का हिस्सा बनकर रह गयी। यदि यही स्थिति रही तो आने वाले समय में सम्पादक नाम की संस्था मीडिया से समाप्त हो जाएगी और ब्रांड मैनेजर जैसे लोगों के हाथों से पत्रकारिता संचालित होगी।

लेकिन भारतीय पत्रकारिता का यह नया दौर जो बाज़ार द्वारा संचालित हो रहा है, इसमे अब भी अपने पत्रकारिता धर्म का निर्वाह करने वालों की कमी नहीं है। बाज़ार ने जिस तेज़ी से मीडिया पर अपना कब्जा जमाया है वक्त के साथ मीडिया भी अपनी सोच और समझ के साथ इस बाज़ार से बाहर निकलकर फिर से एक नयी दुनिया की तरफ जाएगा। जहाँ पुराने सपनों के साथ चलना भले ही कठिन हो लेकिन नए सपनों की यह दुनिया पुराने मूल्यों को संजोए परम्परागत पत्रकारिता की पवित्रता को बरकरार रखेगी।

❑❑❑

एन-23, श्री निवास पुरी, नई दिल्ली-65, मो. 9968723222, 9811687144

जैन दर्शन में योग की अवधारणा

● डॉ० वाहिद नसरू

ब्राह्मण क्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्।
शांन्तये कर्मणामन्यद्ययोगान्नस्ति विमुक्तये।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो व व्याधितो दुर्बलोऽपि व।
अभ्यासत्सिद्धिमाप्नोति सव योगेत्त्वंतद्रितः।।

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तथा स्त्री पुरूषों को पवित्र करने तथा उन की रक्षा करने, कर्म से उत्पन्न होने वाले दु:खों को शान्त करने तथा उन से मुक्त करने के लिए योग से बढ़कर दूसरा कोई शास्त्र नहीं। युवक, वृद्ध, अतिवृद्ध, रोगी अथवा निर्बल, चाहे कोई भी हो, आलस्य को त्याग कर योग की क्रियाओं का अभ्यास करने वाला सिद्धि को प्राप्त करता है।[1]

भारत वर्ष में वैदिक काल से भी पूर्व हड़प्पा काल में भी दार्शनिक चिन्तन के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। सृष्टि विषयक अनेक प्रकार के प्रश्न जैसे- सृष्टि क्या है? सृष्टि का कारण क्या है? सृष्टि का संचालक कौन है? परमतत्त्व क्या है? इस प्रकार के प्रश्न आज भी विद्वानों में चिन्तन के विषय बने हुए हैं। विद्वानों के द्वारा इन अनेक प्रकार के प्रश्नों का उत्तर पाने के कारण ही अनेकानेक दर्शनों व चिन्तन पद्धतियों का जन्म हुआ। आधुनिक प्रयोगशालाओं के अभाव में जब चिन्तकों ने अपने सूक्ष्म शरीर पर ध्यान केन्द्रित किया तो उन्हें लगा कि सूक्ष्म शरीर ही इस ब्रह्माण्ड का ज्ञान कराने के लिए उचित और सार्थक प्रयोगशाला है। अत: विद्वानों, ऋषियों ने अपने स्थूल शरीर के अन्दर गूढ़ रूप से छिपे हुए शरीर पर ही चिन्तन किया। योग से सूक्ष्म शरीर के द्वारा आत्म चिन्तन कर गूढ़ रहस्यों का ज्ञान अर्जित करने का प्रयास किया।

जब चित्त की वृत्तियों को बाह्य व्यवहारों से हटाकर उन्हें स्थिर, एकाग्र कर लिया जाता है। जब जगत् द्रष्टा परमेश्वर के स्वरूप में जीव का अवस्थापन होता है। पातंजलयोग के अनुसार कथित मार्ग से अन्त:करण की वृत्तियों (चित्तवृत्तियों) को विषयान्तर से निरूध कर, अन्त:करण में ही, निश्चल रूप से लगाने की जो क्रिया है, उसी का नाम योग है।

भारत के धार्मिक इतिहास में जैनधर्म का प्रमुख स्थान है। भारत में जैन साहित्य को प्रोत्साहन और प्रगति प्रदान करने में जैन-धर्मावलम्बी आचार्य का विशेष योगदान रहा। इनमें कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि का स्थान मुख्य है। आचार्य पतंजलि के ''योगसूत्र'' के समान ही आचार्य हेमचन्द्र ने ''योगशास्त्र'' की रचना की थी। योग आध्यात्मिक विकास की एक प्रक्रिया है। योग के इतिहास के प्रमाण वैदिक काल से भी पूर्व हड़प्पा की सभ्यता में प्राप्त होते हैं। योग निरोग शरीर और चित्त की शान्ति का साधन मात्र ही नहीं, अपितु सुख और शान्ति का दिशा निर्देशन भी करता है। सत्व, रजस और तमस गुणों से युक्त चित्तवृत्तियों का नियमन योग है। आत्मोन्नति के साधन के रूप में योग सर्वश्रेष्ठ साधन है। जैन योग के सम्बन्ध में भगवान महावीर से भी पूर्व प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के काल में जैन योग के पर्याप्त प्रमाण जैन साहित्य में साक्ष्यों के रूप में वर्णित हैं।

जैन आगमों में योग पद मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं के लिए प्रयोग होता है।[2] जैन धर्म में मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाएँ एक प्रकार से सूक्ष्म शरीर के बन्धन अर्थात् आलस्य का ही कारण हैं। अतः जैन योग का यह अर्थ आचार्य पतंजलि के 'पातंजलयोग' से स्पष्टतः भिन्न अर्थ देता है। **योगश्चितवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्।**[3] जब चित्त की वृत्तियों को वाह्य व्यवहारों से हटाकर उन्हें स्थिर, एकाग्र कर लिया जाता है। जब जगद्द्रष्टा परमेश्वर के स्वरूप में जीव का अवस्थापन होता है। पातंजलयोग के अनुसार कथित मार्ग से अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा चित्तवृत्तियों को विषयान्तर से निरुद्धकर, अन्तःकरण में ही, निश्चल रूप से लगाने की जो क्रिया है, उसी का नाम योग है। पतंजलि ने अपने ''योगसूत्र'' में योग को परिभाषित करते हुए वर्णन किया है कि-'***योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः***' सत्त्व, रजस और तमस गुणों से युक्त चित्तवृत्तियों का नियमन ही योग है। चित्तः अन्तःकरण समुदाय को कहते हैं एवं वृत्तियां हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति आदि। पातंजल योग में वर्णित चित्त की वृत्तियों से साम्य रखने वाले शब्द जैनदर्शन के आगमों में वर्णित हैं, जैसे अयोग, संवर, निर्जरा, तप इत्यादि। कालान्तर में हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र[4] आदि आचार्यों ने पातंजल के योगदर्शन को योग साधना के अर्थ में जैनधर्म व दर्शन में भी योग शब्द को प्रचलित किया। प्रस्तुत लेख में योग शब्द का अर्थ, योग साधना के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में आत्मा का वर्णन वैदिक परम्परा के ही अनुसार मान्य है, परन्तु अपनी तत्त्वमीमांसीय विचारधारा के कारण उससे भिन्न रूप में वर्णित किया गया है, ठीक उसी प्रकार जैन विचारधारा पातंजल योग से सहमत होते हुए भी अपनी तत्त्वमीमांसीय मान्यता पर बल देने के कारण पातंजल योग से भिन्न है।

पातंजलयोग में मुख्य रूप से भारतीय संस्कृति के आध्यात्मवाद पर अधिक बल है। परन्तु जैनदर्शन आध्यात्मवाद की अपेक्षा भौतिकवाद पर अधिक बल देता है। इसका यह

अर्थ कदापि नहीं करना चाहिए कि पातंजलयोग भौतिकवाद के प्रति उदासीन है और जैनदर्शन आध्यात्मवाद के प्रति उदासीन है। वैदिक संस्कृति और जैन संस्कृति दोनों इस तथ्य पर पूर्ण रूप से विश्वास रखती हैं और बल देती हैं कि जीवन का भौतिक अंश जीवन के आत्मिक तत्त्व के अधीन रहकर चलना चाहिए। जैन योग के अनुसार ज्ञान, आनन्द जैसे गुण आत्मा के निजी गुण हैं, आत्मा की अपनी स्वरूप स्थिति के लिए उन गुणों का निरोध नहीं, परन्तु उनका चरम शुद्ध विकास आवश्यक है। ज्ञान और आनन्द जैसे गुणों का विकास करना ही योग है। परन्तु पातंजल योग में ज्ञान, आनन्द जैसे मानसिक व्यापारों के विकास अर्थात् उन्नत करने के नहीं, अपितु उनके निरोध की बात करता है और उस निरोध में सहायक होने वाला साधन योग है।

जैन धर्म के तीन रत्न हैं- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् आचरण। सत् में विश्वास ही सम्यक् दर्शन कहा गया है। सम्यक् दर्शन के आधार पर ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण का प्रासाद निर्धारित होता है। सूक्ष्म रूप में सम्यक् दर्शन अपने को पहचानना अर्थात् आत्मप्रतीति, आत्मस्वरूप की ओर उन्मुखता है एवं स्थूल रूप में या अपने व्यावहारिक रूप में जीवादि पदार्थों का यथार्थ रूप से निश्चय करने की रुचि है। यहाँ मुख्य बात यह है कि आत्मस्वरूप की प्रतीति में न केवल आत्मा के अस्तित्व में विश्वास, परन्तु ज्ञान दर्शन आदि गुणों से युक्त आत्मा में विश्वास निहित है, और यहीं पर जैनयोग पातंजलयोग से अपनी भिन्नता स्थापित करता है और वह उसकी तुलना में योग के लक्ष्य के रूप में सद्-चित् आनन्द रूप आत्मस्वरूप को स्वीकार कर योग के लिए अधिक विधेयात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक सुसंगत आधार प्रस्तुत करता है।[5]

पातंजलयोग 2/29 में मोक्ष प्राप्ति तथा ईश्वर प्राप्ति के आठ अंगों का उल्लेख है-: **'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टौ अंगानि'**। शिवमहापुराण में भी पातंजलयोग के ही समान योग के आठ अंगों का वर्णन है:-

यमश्च नियमश्च स्वस्तिकाद्यं तथासनम्।

प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च॥

समाधिरिति योगांष्टामुक्तानि सूरिभिः॥[6]

पातंजलयोग और शिवमहापुराण में योग की क्रियाएँ सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक स्तर पर इस प्रकार की रूप रेखा प्रस्तुत करता है:- यौन आचरण की पवित्रता और विनम्रता के लिए योगदर्शन में यम और नियम का वर्णन है। ***'आत्म दीपो भव'*** के लिए यौन आचरण की पवित्रता और विनम्रता के गुण का होना अति आवश्यक है। यम और नियम का नियमपूर्वक आचरण करने से समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त किया जा सकता

है। 'आत्म दीपो भव' के लिए यौन आचरण की पवित्रता और विनम्रता के गुण का होना अति आवश्यक है। स्थूल शरीर को बीमारियों, दुर्बलता, ब दुख से निवारण के लिए आसन और श्वास प्रक्रिया को सुचारू रखने के लिए प्राणायाम की आवश्यकता होती है। आसन और प्राणायाम स्थूल शरीर को स्वस्थ रखता है, और सृष्टि के प्रत्येक जीव पर दया की भावना उत्पन्न होती है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय पर विजय प्रत्याहार के द्वारा की जा सकती है। प्रत्याहार के नियम का आचरण करने से योगी समाज में विश्वास का पात्र हो जाता है। धार्मिक मान्यताओं के प्रति आदर, मन में धैर्य और दृढ़ निश्चय धारणा के द्वारा उत्पन्न होता है। योगी घमण्ड़ और अहंकार का दमन ध्यानयोग के द्वारा करता है। जब तक घमण्ड़ और अहंकार का अल्प **मात्र भी शेष** रहता है, योगी को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। योगी को सर्वत्र प्रज्ञालोक समाधियोग के द्वारा प्राप्त होता है। इस अवस्था में योगी ईश्वर को प्राप्त कर उससे साक्षात्कार भी करता है। योगी में धारणा, ध्यान और समाधि की अवधारणा से विकारों, संस्कारों को और भविष्य में अध्ययन, स्वप्न आदि भूतकाल की घटनाओं से बन्धे होने की वृत्तियों जैसे अनेक मानसिक दोषों को दूर करता है।

पातंजलयोग, शिवमहापुराण, सात कमलासन आदि सभी वैदिक परम्परा में योग के जो तत्त्व हैं, उन्ही तत्त्वों से समानता रखने वाले तत्त्व जैनधर्म व दर्शन में भी वर्णित हैं। जैन आगमों में भी यम-नियम आदि के समान अर्थ रखने वाले ऐसे अनेक भिन्न शब्द हैं जो पातंजलयोग के यम-नियम आदि के समान अर्थ व आचरण की शिक्षा देते हैं।

जैनधर्म में तीन रत्न हैं:- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण। सांसारिक विषयों से उत्पन्न सुख-दुख के प्रति समभाव सम्यक् आचरण है। त्रिरत्न के अनुशीलन में सम्यक् आचरण पर विशेष बल दिया गया है।

जैनदर्शन और पातंजलयोग के अनुसार योग की समानताओं का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है:-

यम (व्रत) जैन विचारधाारा में सम्यक् आचरण के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह पांच व्रतों के पालन का विधान है। महर्षि पतंजलि के योगसूत्र के अनुसार पाँच यमों का कथन योगसूत्र 2/30 में इस प्रकार है- ***''अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः''*** 7 अर्थात् (1) अहिंसा (2) सत्य (3) अस्तेय (4) ब्रह्मचर्य और (5) अपरिग्रह, ये पाँच यम कहलाते हैं। **अहिंसाः**- महर्षि वेद व्यास के भाष्य के अनुसार- ''कभी भी किसी प्रकार से प्राणी के प्रति द्रोह न करना अहिंसा कहलाता है। योग सोपान के अनुसार अहिंसा का लक्षण इस प्रकार है-

''कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।

अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः।।[8]

शरीर से, मन से तथा वचन एवं कर्म से कभी भी किसी भी जीव को क्लेश न पहुँचाना-इसी को योगी लोग अहिंसा कहते हैं। अर्थात् किसी के प्रति असंयत व्यवहार हिंसा है और आत्मवत् भाव तथा उसके अनुकूल आचरण अहिंसा है।

सत्यः- महर्षि के भाष्य में वर्णन है कि ''जैसा किसी ने प्रत्यक्ष अनुभव किया हो या उसको अनुमान द्वारा ज्ञात हुआ हो, वैसा ही मन में उसका चिन्तन करने और वाणी द्वारा प्रकाशित करने को सत्य कहते हैं। मनुष्य को सदा सत्य का पालन करना चाहिए, भय, क्रोध तथा हास्य में भी सत्य ही बोलना चाहिए, असत्य नहीं।

अस्तेयः- वेदव्यास के भाष्य के अनुसार ''धर्मशास्त्र के विधान के प्रतिकूल दूसरे-दूसरों से द्रव्य को स्वीकार करना स्तेय (चोरी) कहलाता है, इसके विपरीत दूसरों से किसी प्रकार के द्रव्य को प्राप्त करने की लालसा अथवा लोभ न करने को अस्तेय कहते हैं। योगसोपान में अस्तेय का लक्षण इस प्रकार किया गया है:-

''कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निष्पृहः।

अस्तेयमिति सप्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः''।।[9]

''मन वाणी तथा शरीर द्वारा दूसरे के द्रव्य ग्रहण करने की लालसा न करने को तत्त्वदर्शी ऋषि अस्तेय कथन कहते हैं। बिना अनुमति के किसी की वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

ब्रह्मचर्यः- महर्षि व्यास का ऐसा कथन है कि ''स्त्री तथा पुरुष के गुप्त जनन इन्द्रियों की रक्षा को ब्रह्मचर्य कहते हैं''।

''कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।

सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते''।।[10]

अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर से प्रत्येक अवस्था तथा स्थान में, सदैव मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का कथन अविवाहित स्त्री पुरुषों के लिए है। गृहस्थों के लिए ब्रह्मचर्य का कथन इस प्रकार है:-

ऋताश्वतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।

ब्रह्मचर्य तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमावासीनाम्।।[11]

विधानपूर्वक शारीरिक रचना के नियमानुसार उचित ऋतुकाल में निज धर्मपत्नी से मैथुन करने को गृहस्थों का ब्रह्मचर्य कहते हैं। महर्षि पतंजलि का कथन है कि:-

''ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'' ब्रह्मचर्य में स्थित होने से वीर्य का लाभ होता है अर्थात्[12] शारीरिक तथा मानसिक शक्ति की प्राप्ति होती है। आत्मा की शुद्धि स्वरूप की ओर अग्रसर होना और पूर्ण रूप से कामभोगों व संसर्ग की ओर ध्यान भी नहीं देना चाहिए। यह ब्रह्मचर्य का मूल सिद्धान्त है।

अपरिग्रहः-महर्षि पतंजलि के पातंजलदर्शन में अपरिग्रह पर महर्षि व्यास का कथन है कि-''विषययनामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः'' सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने, उनकी रक्षा करने, तथा उनके क्षीण हो जाने में, उन में लीन होने तथा उन की प्राप्ति इत्यादि में हिंसा करने के कारण, दोषों को अनुभव करते हुए, उन पदार्थों को अपनी सम्पत्ति बनाने की चेष्टा न करना अपरिग्रह कहलाता है। किसी भी प्रकार के पदार्थो का संग्रह नहीं करना चाहिए। संग्रह से आसक्ति की भावना बढ़ती है। धन, धान्य, वस्तु, आभूषण सभी का त्याग अपेक्षित है। अर्थात् अमूर्त्त रूप से संग्रह का त्याग करना है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले जैनियों के लिए इन व्रतों का आशिंक रूप से पालन करने की व्यवस्था है, जिसे अणुव्रत कहते हैं। भिक्षुओं को इन व्रतों का पूर्णतः पालन करना चाहिए जिसे महाव्रत कहते हैं।

''जातिदेशकालसमयानवच्छिनाः सार्वभौमा महाव्रतम्''[13] अहिंसा इत्यादि यमों का पालन किसी विशेष जाति, देश, समय, तथा काल के लिए नहीं हैं, अपितु प्राणीमात्र के हित के लिए हैं। योगसूत्र से पूर्व वैदिक परम्परा में भिक्षु या संन्यासी के समान ही गृहस्थी के लिए इन व्रतों का उल्लेख इस रूप में नहीं हुआ था, जिस रूप में जैन परम्परा में हुआ था।

व्यक्तिगत जीवन के लिए महर्षि पतंजलि ने पाँच नियमों का भी व्यवस्था वर्णित की है: ''शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्रवणप्रणिधानानि नियमाः''[14] (1) शौच (2) सन्तोष (3) तप (4) स्वाध्याय (5) ईश्वर प्राणिधान, ये पाँच नियम हैं।

नियमः- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान की व्याख्या आचार्य पतंजलि ने नियम के अन्तर्गत् की है। शौच या शोधन बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार का होता है। बाह्य और आभ्यन्तर मलों से शरीर, मन, बुद्धि तथा चित्त को शुद्ध रखना शौच कहलाता है। सन्तोष- जीवन यात्र का निर्वाह करने के लिए जो पदार्थ जितनी मात्र में परमावश्यक है, उस से अधिक प्राप्ति का लोभ न करना सन्तोष कहलाता है। तप- शीत, उष्णता, दुख, सुख इत्यादि द्वन्द्वों को सहन करना तप कहलाता है। स्वाध्याय- ज्ञान में वृद्धि, जीवन में उच्चता, अन्तःकरण की शुद्धि से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त करना स्वाध्याय कहलाता है। ईश्वर प्राणिधान-कर्म करते हुए इसका फल ईश्वर के अर्पण कर देना ईश्वर प्राणिधान कहलाता है। पातंजलयोग के इन सभी तत्त्वों का वर्णन जैन आगमों में विस्तार के साथ वर्णित किया गया है। जैनयोग के कथन की परम्परा के अनुसार सृष्टि के कर्ता,

कर्मफलनियन्ता, साधकों के विघ्न हरता, ईश्वर की भक्ति को एवं उसके निमित्त किए गए कर्मफल त्याग को मान्यता नहीं दी गई है। लेकिन वह अरिहन्त[15] (इन्द्रिय रूपी शत्रु) एवं भक्तों अनुयायियों, उपासकों के द्वारा 'जिन' के लिए की गई पूजा अर्चना को महत्त्व व मान्यता देता है। जैन आगमों के अनुसार मनुष्य 'जिन' की साधना करने से अपनी सुषुप्त शक्ति को स्वयं जागृत कर सकता है।

आसनः– योगदर्शन में आसन तथा प्राणायाम, दोनों सम्मिलित हैं, आसन के बिना प्राणायाम इस प्रकार निरर्थक है, जैसे आत्मा के बिना शरीर और शरीर के बिना आत्मा। योगसूत्र के अनुसार आसन ''स्थिरसुखासनम्''[16] जिसके द्वारा शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता और अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है, उस प्रकार के शारीरिक आकार को धारण करना आसन कहलाता है। श्रमणों के लिए दशाश्रुतस्कन्ध में एकमासिकी, द्विमासिकी और त्रिमासिकी आदि बारह प्रतिमाओं का वर्णन है, उस दशाश्रुतस्कन्ध में ही योगसूत्र के समान ही आसनों का भी वर्णन है। आठवीं प्रतिमा जिसको सप्तरात्रिन्दिवा नाम से जाना जाता है। उस सप्तरात्रिन्दिवा में सात दिन तक उपवास करके नगर के बाहर जाकर ध्यान करने के साधन उत्तरासन और निधिद्यासन करने को कहा गया है। नवम प्रतिमा को दण्ड़ासन, लगुड़ासन अथवा उत्कटुकासन में स्थित होकर करने का विधान है। उत्तराध्ययन सुत्र में इन्हें स्थान पद से सम्बोधित किया गया है। कायोत्सर्ग मुद्रा को भी विशेष आसन का स्थान प्राप्त है। कायोत्सर्ग आसन को पद्मासन या सुखासन में दोनों हाथों को या तो घुटनों पर टिकाकर या बायीं हथेली रखकर करने का विधान है।

प्राणायामः– प्राणायाम शब्द प्राण और आयाम से मिलकर बना है। पातंजल 'योगसूत्र' में प्राणायाम का लक्षण–''तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः''[17]। आसन के सिद्ध अर्थात् स्थिर हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद अर्थात् विराम प्राणायाम कहलाता है। आसनों के द्वारा शरीर को साधा जाता है तो प्राणायाम से प्राण को। प्राण एक शक्ति है जो परमाणुओं से मनुष्य के प्राण मय शरीर का निर्माण करती है। जैन विचार धारा की दृष्टि से प्राण एक ऊर्जा है, जो कि मन, वचन, श्वास, इन्द्रिय एवं शरीर आदि की गतिविधियों में सहयोगी एवं सक्रिय होने के कारण तदनुकूल प्रकारों में विभक्त है। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान वायु मिलकर सूक्ष्म शरीर में प्राण वायु कहलाती है। ग्रहण किए हुए अन्न का पाचन, शारीरिक कान्ति, दीप्ति तथा स्थूल शरीर से बाहर निकलकर दूसरे पदार्थों को भस्म करना आदि तेजस्शरीर के कार्य हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में श्वास के दीर्घ या निरोध का अर्थात् दीर्घ कुम्भक का आकस्मिक मरण की संभावना की दृष्टि से निषेघ किया गया है, परन्तु सूक्ष्म आश्वास की प्रक्रिया को मान्यता दी गई है।[18] कायोत्सर्ग का विधि को एवं आवश्यकनिर्युक्ति के कथन के अनुसार धर्मध्यान और शुक्लध्यान के समय श्वास को मन्द करना चाहिए। इन विवरण के आधार पर कहा जा

सकता है कि जैनयोग में भी मन की शान्ति के लिए प्राणायाम को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है।

प्रत्याहारः- खाने को आहार और उगलने को प्रत्याहार कहते हैं। जिन चीजों से घृणा की जाती है, उन्हें ही उगला अर्थात् त्यागा जाता है। मनुष्य त्याज्य वस्तुओं से घृणा करता है। प्रत्याहार से घृणा करना आवश्यक है, जैसे वमन, निष्ठा आदि से करते हैं। ''स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकारइवेन्द्रियाणाँप्रत्याहारः''[19]

संक्षिप्त रूप में योगसूत्र के अनुसार चित्त की अनुगामी बनी हुई इन्द्रियों का अपने आप विषयों से विरत होना ही प्रत्याहार है। मनुष्य के द्वारा ही त्याज्य वस्तुओं का पुनः ग्रहण नहीं किया जाता है, इसी प्रकार प्रत्याहार के स्वरूप को जैनयोग के अनुसार प्रति-संलीनता के प्रकारों में प्रत्याहार का अन्वेषण किया जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियों के विषय प्रचार को रोकना और प्राप्त शब्दादि विषयों में राग-द्वेष रहित होना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना एक धर्म अर्थात् विषय होता है, जैसे नेत्र इन्द्रिय का विषय है-देखना। इस परिस्थिति में नेत्र के समक्ष आने वाले रूप को न देखना सम्भव नहीं है, परन्तु उनके विषयों में आसक्त न होना राग-द्वेष कहलाता है। इन राग-द्वेष से सदा दूर ही रहना चाहिए।

धारणः-''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''[20] अर्थात् देश विशेष में चित्त को लगाना धारणा है। जिस देश (स्थान विशेष) में ध्येय का चिन्तन किया जाता है वहाँ चित्त का स्थिर होना ही धारणा है। ईश्वरगीता के अनुसार देश इन को कहा जाता है- हृदयकमल, नाभि, मूर्धा, अथवा पर्वतशिखर। इन देशों में चित्त को बाँधा देना धारणा है। धारणा करने से मनोवांछित स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। आत्मिक सम्पदाएँ भौतिक वस्तुओं से खरीदी नहीं जा सकतीं, वह तो आत्मिक प्रयत्नों से प्राप्त हो सकती हैं।

ध्यानः-''तत्रप्रत्ययैकतानानता ध्यानम्''[21]। उसी विषय में चित्त की निरन्तर एकाग्रता ध्यान कहलाती है। अर्थात् उस देश विशेष में व्यवधान से रहित जो ध्येयकार वृत्ति का प्रवाह है। जैसे हृदयकमल आदि में चतुर्भुज भगवान विष्णु का चिन्तन अथवा बुद्धि-वृत्ति में उससे व्यतिरिक्त चैतन्य का चिन्तन, और कारण रूप उपाधि में ईश्वर का चिन्तन।

समाधिः-''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः''[22] निरन्तर ध्यान के फलस्वरूप जब चित्त का अपना स्वरूप शून्य के समान हो जाता है, वह ध्येय पदार्थ में मग्न होकर वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करता है, तो यह अवस्था समाधि कहलाती है।

संयमः- ''त्रयमेकत्र संयमः''[23]

पतंजलि, ''योगसूत्र'' 3/4,

'अर्थात् तीनों मिलकर संयम कहलाता है। धारणा, ध्यान, एवं समाधि जब एक ही आलम्बन में होते हैं, तब उन्हें संयम कहा जाता है। ''तस्य भूमिषु विनियोगः'' उस संयम का स्थूल आदि के क्रम से विविक्त परमात्म पर्यन्त भूमियों में विनियोग किया जाना चाहिए। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों शब्दों को पृथक-पृथक न कहकर 'संयम' शब्द का प्रयोग व्यवहारिक सुगमता की दृष्टि से किया जाता है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार योग के इन पाँच उपदेश के द्वारा शरीर, प्राण तथा इन्द्रियों को वश में किया जाता है। धारण, ध्यान और समाधि के द्वारा चित्त को वश में किया जाता है। जैनयोग के स्मरण की क्रियाओं की समानता बहुत कुछ पातंजल योग के प्राणायाम तथा ध्यान आदि के समान हैं।

पतंजलियोग की धारण, ध्यान, और समाधि का विस्तृत क्षेत्र जैनयोग के ध्यान में समाविष्ट में हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया द्वारा साधी गई मन की एकाग्रता में चैतन्य शक्ति को जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है।

योग की साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य मानवीय चेतना को विक्षेपों, विक्षोभों एवं तनावों से मुक्तकर निराकुल अवस्था की ओर ले जाना है। योग पद्धति विवेक पर आध ारित संयम और संतोष की तकनीक के द्वारा आकांक्षाओं को निर्मूल कर चित्त में निराकुलता की स्थति उत्पन्न करती है।

संदर्भ :

1. योगाचार्य, प्रकाशदेव,''योगिक स्वास्थ्य शास्त्र तथा आध्यात्मिक विकास'' प्रकाशन योगाश्रम, नईदिल्ली, 1948, पृ.सं.10,
2. तविहे जोगे पण्णत्ते तंजहा मणजोगे, वइ जोगे कायजोगे। ठाणांगसू स्था 3, 301,सू0 124
3. पतंजल, योगसूत्र,1/3 योगवार्तिक 1/2
4. इन आचायों का वर्णन प्रबन्ध कोश, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रभावक चरित, कुमारपाल चरित आदि अनेक प्रबन्धों में है।
5. जैन गोकुलचन्द्र, ''जैन विद्या एवं प्राकृत, परिसंवाद'', सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1987, पृ. 141,
6. शिवमहापुराण, 7/2/37
7. पतंजलि, ''योगसूत्र'', 2/30,

8. योगाचार्य, प्रकाशदेव, ''योगिक स्वास्थ्य शास्त्र तथा आध्यात्मिक विकास'' प्रकाशन योगाश्रम, नई दिल्ली, 1948, पृ. सं. 202,

9. वही, पृ. 225,

10. वही, पृ. 227,

11. वही, पृ. 228

12. वही, पृ. 228

13. पतंजलि, योगसूत्र, 2/31,

14. पतंजलि, ''योगसूत्र'' 2/32,

15. जैनशब्द कोश के अनुसार 'अरि' का शाब्दिक अर्थ शत्रु के साथ इन्द्रिय भी है। इन्द्रियों के दमन करने को ही जैनियों को अरिहन्त भी कहा जाता है।

16. पतंजलि, ''योगसूत्र'' 2/45,

17. पतंजलि, ''योगसूत्र'' 2/49,

18. जैन गोकुलचन्द्र, ''जैन विद्या एवं प्राकृत, परिसंवाद'', सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1987, पृ.145,

19. पतंजलि, ''योगसूत्र'' 2/54,

20. पतंजलि, ''योगसूत्र'' 3/1,

21. वही, 3/2,

22. वही, 3/3

23. पतंजलि, ''योगसूत्र'' 3/4,

❑❑❑

लघुकथा जीवन प्रवाह के ऊर्मि-आवर्त का प्राणोबा बिम्ब है

● रामयतन यादव

साहित्य जीवन की गतिशील प्रक्रिया के वैचारिक प्रतिध्वनियों की अभिव्यक्ति है। चेतना के तदनुरूपी रूप विचारधारा से अलग नहीं होते। वे परस्पर जुड़े होते हैं। चेतना का पदार्थी-सम्बन्ध साहित्य जगत की पुनर्रचना का आधार होता है। वास्तविक दुनिया साहित्य में हु-ब-हु अवतरित नहीं होती, वह रचना की अनुभूति मे संश्लिष्ट होकर पुनर्रचित होती है। चेतना पर जीवन का स्वरूप निर्धारित नहीं होता बल्कि जीवन ही चेतना के स्वरूप के सापेक्ष होता है। समाज-जीवन का कार्य व्यापार और समय का संघात रचनाकार के भीतर रच बसकर कला के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। जीवन का यथार्थ कल्पना-शक्ति द्वारा पुनर्रचित होता है, इसलिए रचना यथार्थ की वास्तविक प्रतिच्छवि नहीं, कला रूप में व्यंजित नवीन सर्जना है। सामाजिक स्थितियों-घटनाओं को रचना में ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देना रचना की कलात्मकता को अपसरित करने जैसा है। क्योंकि कोई भी घटना या परिघटनाएँ कला के संस्पर्श से जीवंत होती है। यदि कोई रचनाकार सामाजिक या ऐतिहासिक घटनाओं को यथावत पेश करता है तो पाठक के लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता क्योंकि पाठक उन घटनाओं को देख-पढ़ चुके होते हैं। समाज अथवा इतिहास में तो फिर उस रचना या कलाकृति की क्या जरूरत रह जाती है? तात्पर्य यह कि...महत्व तभी है, जब वर्ण्य वस्तु कलात्मक रूप में अभिव्यक्त हो।

कथा-साहित्य सामाजिक सम्बन्धों और निरंतर विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुचिंतन और अभिव्यंजन है। इतिहास की निरंतता और समय की गतिशीलता के मार्ग में कोई अवरोध नहीं होता है। किन्तु खण्ड विशेष को अंतर्विष्ट किये रहने पर भी विशेष कालखण्ड विशेष अखण्ड इतिहास नहीं होता।

लघुकथा कथा का वह रूप है जिसमें घटनाओं-परिघटनाओं का विस्तार, चरित्र-चित्रण का बहुआयामी अवसर तथा कथा-क्रम के फैलाव की गुंजाइश बहुत होती है। घटना चरित्र और कथा का परस्पर इस प्रकार संगुंफन रहता है कि इन्हें अलग करने से लघुकथा का रूप ही ध्वस्त हो जाता है। दरअसल लघुकथा कथा का अत्यंत ही कलात्मक, संघनित और जटिल संरचना-विधान है।

इसी तरह 'क्षण विशेष' समय की लघु इकाई होते हुए भी समय-प्रवाह से विभक्त नहीं है। 'क्षण' को हर समय की निरंतरता से अलग कर 'क्षण' का न तो कोई औचित्य सिद्ध कर सकते हैं और न ही 'क्षण' से जीवन का कोई चित्र निर्मित कर सकते हैं। हमारे लिए वही 'क्षण' महत्वपूर्ण होता है जो जीवन और समय की निरंतरता और सक्रियता से सम्बद्ध हो तथा पूर्णतया रचनात्मक हो। स्थिर क्षण की तो कल्पना करना भी असंभव है। दिक् काल और गति की परस्पर संबद्धता और गतिशिलता ही रचना में केन्द्रित होकर 'क्षण' की समय-संज्ञा प्राप्त करती है।

जब हम कथा की चर्चा करते हैं तब हमारे दिमाग में उपन्यास, कहानी और लघुकथा के रूप उभरते हैं। उपन्यास मनुष्य के परिपक्व काल की रचना-विधा है जिसमें जीवन सम्पूर्णता में चित्रित होता है और कथा का विस्तार होता है। कहानी में कथा-क्रम घनीभूत और सिमटा हुआ होता है और चरित्र-चित्रण हेतु भी आकुंचित अवसर होता है। लेकिन लघुकथा कथा का वह रूप है जिसमें घटनाओं-परिघटनाओं का विस्तार, चरित्र-चित्रण का बहुआयामी अवसर तथा कथा-क्रम के फैलाव की गुंजाइश बहुत होता है। घटना चरित्र और कथा का परस्पर इस प्रकार संगुंफन रहता है कि इन्हें अलग करने से लघुकथा का रूप ही ध्वस्त हो जाता है। दरअसल लघुकथा कथा का अत्यंत ही कलात्मक, संघनित और जटिल संरचना-विधान है। लघुकथा जीवन-प्रवाह के विशेष ऊर्मि-आवर्त का प्राणोष्म बिम्ब है जिसमें जीवन के गतिशील क्षण अपने वृत में अर्थ-विशेष का प्रक्षेपन करते हैं। लघुकथा अपनी ध्वान्त-धात्विक खनक में खनकती है, रीझाती है। लघुकथा ऐसी खाँटी धात्विक घंटिका है जो लघु आघात में ही झंकृत हो जाती है। इस तरह लघुकथा न तो क्षण-विशेष की क्षणिक अभिव्यक्त है और न ही कथा का अभिलाक्षणिक रूप। वह तात्विक रूप में निर्मित और शिल्पित कथा-कला का प्रतिदर्शन है। यदि वह निश्चित और कलात्मक नहीं है तो उसमें धात्विक झंकृति नहीं होती। लघुकथा कथा का झंकृत रूप है। लघुकथा की संरचना में ही कथा-चरित्र और घटनाएँ समुच्चय में रूपायित होते हैं। जिस प्रकार गीत की संरचना जटिल, गझिन और संश्लिष्ट होती है, उसी प्रकार लघुकथा की संरचना भी। अरसा पहले नयी कविता में 'क्षण' और 'लघुमानव' की खूब चर्चा हुई थी। नयी कविता का आन्दोलन समाप्त हो चुका है। 'क्षण की अनुभूति' तथा 'लघुमानव की प्रतीति को सिरे से समय ने नकार दिया है। पता नहीं कतिपय आलोचक किस लोभ में 'क्षण' की अनुभूति की अभिव्यक्ति को ही लघुकथा के नाम से अभिहित करते अघाते नहीं हैं। न तो कोई 'क्षण' अपने आप में खुरदरा होता है और न ही 'संवेदनशील' रचना का भाषा-शिल्पक खुरदरा होता है और रचनाकार संवेदनशील। खूब गहरे में विवेचना करने पर यह भी पता चलता है कि खुरदरे शिल्प में भी प्रभावपूर्ण-उम्दा रचनाएँ लिखी गई हैं। मुक्तिबोध का काव्य-शिल्प और एक हद तक नागार्जुन का काव्य-शिल्प भी खुरदरा ही है। संवेदनशीलता भी विचारधारा का विलोम नहीं है। सक्रिय समानुभूति ही संवेदना है। किन्तु लघुकथा में संवेदना और विचारधारा का पृथक प्रतिभास नहीं होता।

लघुकथा आन्दोलन की तीव्रता आवेग और उसके वस्तु विनियोग का प्रारंभिक दौर समाप्त हो चुका है। इस दौरान ढ़ेर सारी लघुकथाएँ लिखी गई हैं। इस आन्दोलन के पूर्व भी लघुकथाएँ लिखी गई थीं किन्तु लघुकथा विधा की स्थापना के आन्दोलन धर्मी प्रवृति से वे दूर ही थीं। तत्कालीन परिवेश में वे लघुकथाएँ कहानी में लघुरूप ही मानी जाती थीं। लघुकथा-आन्दोलन ने सर्जना और समीक्षा के क्षेत्र में काफी विकास किया है। अत: लघुकथा का सौन्दर्यशास्त्र भी इन्हीं रचनाओं के आधार पर निर्मित विकसित किया जा सकता है। कोई भी समीक्षा पद्धति सर्वथा नयी नहीं होती। उसमें पारम्परिक आलोचना-शास्त्र का बहुत बड़ा योगदान रहता है। परम्परा के आधार पर और नयी रचना ऐसे में जबकि हिन्दी में कायदे से आलोचना शास्त्र का कोई सर्वमान्य प्रतिमान नहीं बना है, लघुकथा के प्रतिमान की बात तो दूर की चीज है। किन्तु इससे संबंधित रचना प्रवृति अथवा विधा के स्वतंत्र प्रतिमान की अभ्यर्थना समाप्त नहीं हो जाती। छायावाद की आलोचना में जब परम्परिक आलोचना-प्रतिमानों का प्रयोग किया गया तब छायावाद के साथ न्याय नहीं किया गया। परिणामत: छायावाद के कवियों ने अपनी कविता-संग्रहों में लम्बी भूमिकाएँ लिखी जिनसे उन कविताओं को समझने और मूल्यांकित करने की दृष्टि विकसित हुई और छायावाद के प्रामाणिक आलोचना उभर कर आये। ठीक उसी तरह कविता के परम्परागत प्रतिमानों द्वारा ही गीत की समीक्षा की जाती रही जिससे गीत की संरचना और अभिव्यंजित भावों-विचारों, ध्वनियों तथा लक्ष्य स्वरों की सम्यक् समीक्षा संभव नहीं हुई। इसलिए गीत की गझिन संरचना और व्यंजना की समीक्षा के लिए पृथक समीक्षा पद्धति की मांग होती रही है।

हिन्दी की आलोचना शास्त्र कविता की आलोचना का ही शास्त्र है। कथा-साहित्य का स्वतंत्र समीक्षा शास्त्र भी कायदे से विकसित नहीं हुआ है। इसलिए लघुकथा के स्वतंत्र समीक्षा शास्त्र के निर्माण में भी समय लगेगा जिसकी जमीन स्वयं लघुकथा लेखक ही तैयार कर रहे हैं। लघुकथा अपने अन्तर्गठन से ही समीक्षा का प्रतिमान गढेगी और गढ़ भी रही है। इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि किसी विधा की लघुकथा की भी, निरपेक्ष स्वतंत्रता नहीं है, वह विधागत सापेक्षता से संबंधित है। इन्हीं सापेक्षा रचना-स्थितियों से लघुकथा-विश्लेषण की पद्धति और प्रतिमान उभरकर सामने आयेंगे।

लघुकथा में कथा और कथा की अन्विति संश्लिष्ट होती है। लघु आकाशीय कथा के कारण उसकी संरचना सघन, कलात्मक और जटिल होती है। लघुकथा सनसनीखेज घटना की प्रत्यक्ष और स्थूल प्रस्तुति भी नहीं। लघुकथा आम्यंतर और बाह्य की रचनात्मक अभिव्यक्ति है। घटना वैचित्र्य और विवरण-बाहुल्य लघुकथा में संभव नहीं है। चूँकि लघुकथा में कहानी और उपन्यास की तरह कथाक्रम का विस्तार और विषयवस्तु की स्फीति नहीं होते, इसलिए उसमें प्रतीकों का भी सहारा लिया जाता है। प्रतीकों के माध्यम से कथा-बिम्ब का निर्माण एक कठिन किन्तु कलात्मक रचना प्रक्रिया है जिसे दृष्टिसम्पन्न रचनाकार ही साध पाता है। लघुकथा समय के 'क्षण-विशेष' के साथ जीवन के क्षण विशेष

की कथा-संदर्भिता शिल्पन और व्यंजन की द्वन्द्वात्मकता में सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को प्रतीकित कर देती है। इसलिए लघुकथा जीवन और समाज की व्याख्या नहीं, व्यंजना है। वस्तुतः यह उसकी संक्षिप्तता, क्षिप्रता और वैधता है जो घनीभूत तमस के बीच से तीव्रता से निकल जाती है। किन्तु वह चमत्कार भी नहीं है और न ही जादुई प्रदर्शन। लघुकथा अपनी संक्षिप्ति और संश्लिष्टि में मंत्र-शक्ति की तरह होती है। संसार के सारे अभिलाक्षणिक जीवन-तत्व लघुकथा में क्या किसी भी रचना-रूप में अभिव्यक्त नहीं हो सकते, कुछ छूट ही जाता है। जब लघुकथाकार जीवन और समाज के प्रायः सभी सम्बन्धों, संदर्भों और परिघटनाओं पर कथात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगता है तो न केवल इससे लघुकथा की संरचना का संक्षिप्त कलेवर स्फीत होता है, बल्कि वह अपना गुण धर्म छोड़कर विधान्तरित हो जाती है। इसलिए लघुकथा विपुल घटना-प्रवाह में से चयन की कला विधा है। विस्तीर्ण सामाजिक जीवन में घटित और बिखरी हुई स्थितियों में से किसे छोड़ा जाय और ग्रहण किया जाय, इसी विवेक की विधा है लघुकथा। लघुकथा व्याख्यापन विधा नहीं, व्याकृत विधा है। यह कहानी का आकुचित आधुनिक रूप नहीं, वरन् लक्ष्य केन्द्रित कथा-विन्दु है। लघुकथा का खण्ड-खण्ड में आलोचन नहीं किया जा सकता है क्योंकि लघुकथा के सभी आंगिक तत्त्व कथा, भाव, विचार, शिल्प-स्थापत्य, भाषा और शैली समिश्रय-समुच्चय में अंतर्निहित होते हैं। तब पृथक रूप में 'क्षण-विशेष' का चमत्कृत विन्यास लघुकथा का तंतुवलय नहीं रच सकता है। कथा-कथ्य का विश्वसनीय यथार्थ सामाजिक यथार्थ का पुनर्रचित रूप है, इसलिए वह सत्य के साथ सुन्दर और शिव की भी साधना है।

लघुकथा की लघुकाया को देखते हुए यह कहा जाता है कि आज के जटिल यथार्थ और जिंदगी की संश्लिष्ट सच्चाई को लघुकथा में अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। लेकिन ऐसी बात नहीं कि किसी भी साहित्य-विधा में अंतदृष्टि सम्पन्न रचनाकार अपने समय, समाज और जीवन के जटिल से जटिल यथार्थ को भी सहजता से व्यंजित कर सकता है जिसे भाषा, भंगिमा और कला लाघवता के साथ विवेक युक्त वैचारिक प्रतीत हो। अभिव्यक्ति की रचनात्मक ऊर्जा हो। यह सत्य है कि भिन्न विधाओं में व्यक्त यथार्थ की विवृति और व्यंजना सम्पूर्णतः या आंशिक ही हो सकती है। लघुकथा में संकेतों के बावजूद गहराई में यथार्थ व्यंजित होता है। यथार्थ का विवरण, व्याख्या और विस्तार उपन्यास की संरचना में ही संभव है। समकालीन युग अत्यंत व्यस्त और तेजी से भागता हुआ समय है जिसमें सामाजिक क्रिया-व्यापारों और व्यक्ति के क्रिया-कलापों के सम्बन्धों में बिखराव आया है। जहाँ एक और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने विश्व-सीमा को संकुचित किया है, वहाँ दूसरी ओर विश्व-मानवता के बीच विभेद भी बढ़ाया है। इस यंत्र-युग में साहित्य के आस्वादन के अवसर कम होते जा रहे हैं, ऐसे वक्त में लघुकथा अपनी संवेदनात्मक प्रभान्विति से मनुष्य के थके मानस को किंचित भी आलोकित करती है तो यह इस विधा की एक बड़ी उपलब्धि कही जाएगी। अतः लघुकथा वर्तमान की ही नहीं, भविष्य की भी

रचना-विधा है। लघुकथा अपनी लघुता में भी यथार्थ जीवन के गतिशील क्षणों को व्यक्त करने के सामर्थ्य से युक्त है।

आठवें दशक से लेकर अबतक थोक-भाव में लघुकथाएँ लिखी गई हैं। जाहिर है कि ऐसे में काफी निम्न-स्तरीय और सामान्य किस्म की लघुकथाएँ सामने आई हैं, किन्तु इन्हीं में से छनकर उत्तम रचनाएँ ऊपर आती है और अपनी उपयोगिता और महत्त्व सिद्ध करती हैं।

लघुकथा की भाषा, शैली और उसका गठन रचना-विधान की दृष्टि से काफी अहमियत रखते हैं। व्यवस्थित और सुगठित कला रूप ही वर्ण्य-विषय में गहराई तथा प्रभान्विति पैदा करते हैं। लघुकथा के वर्ण्य-विषय में भिन्नता तो है किंतु कला कौशल ढ़ीला-ढ़ाला। इसलिए लघुकथा के कलात्मक विन्यास को और भी विकसित करते रहने की जरूरत से इंकार नहीं किया जा सकता।

जब हम समकालीन लघुकथा लेखन की व्यापकता और गहराई पर विमर्श कर रहे होते हैं तो वस्तुतः लघुकथा के वर्ण्य-विषय और शिल्प-संरचना को केन्द्र में रखकर ही विचार कर रहे होते हैं।

लघुकथा की रूपगत और वस्तुत समृद्धि को अस्त करने वाले कुछ ऐसे कारण तत्त्व रूप में मौजूद रहे हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है ताकि लघुकथा लिखने के क्रम में सावधानी बरती जा सके। यथा-जीवन का नग्न चित्रण, घटनाओं की समाचारी विवरणी, बड़ी कथा का सार संक्षेप, चटपटी और चुटकुला की सतही प्रवृति, व्यक्तिवादी चेतना, एक ही काव्य की पुनरावृति, समकालीन तनावों की सही पहचान का अभाव, दृश्यों और रचनाओं के चयन में असमर्थता आदि कारणों से लघुकथा एक मुकम्मिल कलारूप पाने से वंचित रही जाती है।

लघुकथाकार अपने समाज और जीवन से किसी घटना-विशेष का चयन करते हैं या फिर कल्पना के बल पर उन्हें गढ़ते हैं, लेकिन कथा-विन्यास एक बात है और उसकी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति दूसरी। जब कथा का विन्यास कलात्मक होता है तब अभिव्यक्ति भी संश्लिष्ट सम्पूर्णता में होती है। इकहरी, एकांगी और सपाट प्रस्तुति कला नहीं है जबतक उसमें द्वैत का तनाव न हो। रूपाकार में लघु होते हुए भी लघुकथा ऐसी मार्मिक स्थिति और शिल्पित क्षण का सृजन करती है कि वह अपनी पूरी अर्थवता में अद्‌भासित हो जाती है।

लघुकथा निश्चित रूप से आधुनिक युग की विधा है जिसका नामकरण बुद्धिनाथ झा 'कैरव' ने अपनी पुस्तक 'साहित्य साधना' की पृष्ठभूमि में सन 1954 में किया था। हां, इतना अवश्य है कि लघुकथा के बीज प्राचीन संस्कृत साहित्य में भिन्न नाम से मौजूद था जिसका पल्लवन लघुकथा के रूप में हुआ। मनुष्य के सामूहिक श्रम परिहार के निमित उच्चरित अस्फूट ध्वनियों में जो लय-संहति थी उससे गीत की उत्पति मानी जाती है उसी तरह भाषा के विकास के साथ ही कथा को संयुक्त किया जा सकता है। अग्णिपुराण से

कथा की पहचान शुरू होती है और इसकी परम्परा जातक कथाओं और सिंहासन बतीसी तक जुड़ती है। जी.वी. गिलक्राइस्ट के हिन्दी स्टोरी टेलर में भी कई छोटी-छोटी कथाएँ हैं। जिनमें लघुकथा के बीज विद्यमान हैं। पश्चिम के ओ हेनरी, मोपांसा और तुर्गनेव की छोटी कहानियों से कई विद्वान लघुकथा की शुरूआत मानते हैं। खलील जिब्रान को भी लघुकथा रचना का श्रेय दिया जाता है रवीन्द्र नाथ टैगोर की कणिका और क्षणिका में भी लघुकथा के रूप ढूंढ़े जा सकते हैं। भरतेन्दु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्म लाल पुन्नालाल बख्शी, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द्र की कहानियों में लघुकथा के रूप की झलक मिलती है। लघुकथा से जुड़ अनेक लघुकथाकारों ने अपनी सृजनात्मक एवं आलोचनात्मक प्रतिभा से इस विद्या को स्थापित किया है। कलात्मक विन्यास और पूरी अर्थवत्ता के साथ लेखकों के आंतरिक संघर्ष एवं सामाजिक सरोकारों को रेखांकित करती हुई शताधिक लघुकथाएँ लिखी हैं। सचेतन लघुकथाओं का सृजन अब भी जारी है। उदाहरण के तौर पर हम सतीश दुबे की लघुकथा 'रिश्ताई नेहबंध' अशोक भाटिया की 'कपों की कहानी', शिवनारायण की 'जहर के खिलाफ', विक्रम सोनी की, 'बनैले सूअर', चितेश की 'आंधी', राजेन्द्र साहिल की 'जीवन का गणित', प्रो. राणाप्रताप की 'स्नेह की बाती', धनरमाम अग्रवाल की 'एकरी-टेक और 'अपने-अपने सपने', विनायक की 'नाव', सिमर सदोष की 'पंजाबी पुत्तर', युगल की 'पेट का कछुआ', सुकेश साहनी की 'ठंडी रजाई' बलराम अग्रवाल की 'गोभीजनम कथा', राजहीरामन की 'अंगूठा', हर भगवान चावला की 'फाँस', जोगिन्दर पाल की 'जागीरदार', सूर्यकांत नागर की 'अंतर', शंकर पुणतांबेकर की 'साइकोफैन्ट', चित्रामुद्गल की 'बोहनी', रमेश बतरा की 'बीच-बाजार', रूपदेवगुण की 'जगमगाहट', ज्योति जैन की 'जलतरंग', श्याम नंदन शास्त्री की 'धरती का काव्य', रघुनंदन त्रिवेदी की 'स्मृतियों में' पिता विष्णु प्रभाकर की 'फर्क', उपेन्द्र प्र. राय की 'घोंसला', सुरेश शर्मा की 'राजा नंगा है', भागीरथ की 'पिता, पति और पत्नी', प्रताप सिंह सोढ़ी की 'कसाई', रत्नकुमार सांभरिया की 'आटे की पुड़िया', राजकुमार घोटड़ की 'ममता की मूरत', कमल चौपड़ा की 'संतान', राजेन्द्र वर्मा की 'दौड़' तथा सिद्धेश्वर की 'कच्ची सड़क-पक्की सड़क' आदि। इन्हें पढ़कर अनुभव के साथ लघुकथा की विकास यात्रा को समुचित तौर पर समझा जा सकता है।

❑❑❑

मकसूदपुर, केवलांतर, फतुहा, पटना - 803201

सौंदर्यबोध के मापदंड और नवोदित पीढ़ी

● डॉ. रवीन्द्र पाठक

सौंदर्यबोध का सामान्य अर्थ है–सुंदरता का बोध या अनुभव। जब हम इस जगत में किसी चीज को अपनी इंद्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं तो हमें केवल उनका संवेदन (सेंसेशन) और प्रत्यक्षीकरण (परसेप्शन) ही नहीं होता, बल्कि उनके प्रति हमारी सद्–असद् भावनाएँ भी जुड़ जाती हैं। वे चीजें या तो अच्छी प्रतीत होती हैं या बुरी। हर व्यक्ति संपूर्ण जगत को सुंदर और असुंदर की कोटि में बाँटता है। किसी चीज में सौंदर्य के तत्वों के इसी बोध का नाम सौंदर्यबोध है। सौंदर्यबोध अपने आप में एक व्यापक शब्द है तथा कला एवं साहित्य में इसका प्रयोग विशिष्ट और सूक्ष्म अर्थ में होता है। लेकिन साहित्य और कला में अभिव्यक्त सौंदर्यबोध लोगों के सौंदर्यबोध या ब्यूटी सेंस से अलग नहीं होता। सामाजिक रूप से विशिष्ट होते हुए भी साहित्यकार या कलाकार की भावनाएँ भी वही होती हैं जो सामान्य लोगों की होती है। उसपर भी जातीय संस्कृति एवं सभ्यता तथा भौगोलिक परिवेश का उतना ही प्रभाव होता है जितना अन्य लोगों पर। उसके सौंदर्यबोध के निर्माण में भी वही कारक काम करते हैं जो अन्य लोगों के सौंदर्यबोध के निर्माण में। इसलिए साहित्यकार या कलाकार समाज का एक विशिष्ट व्यक्ति होकर भी वह सामान्य से अलग नहीं हो सकता। यदि अज्ञेय की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि वह नदी का दीप (व्यक्ति) तो होता है लेकिन वह भूखंड (समाज) से बिलकुल अलग नहीं। भूखंड का दाय हमेशा उसे मिलता रहता है। भूखंड उसका पितर है। (हम द्वीप हैं/नदी के पुत्र हैं/वह वृहद् भूखंड से हमें मिलाती है और वह भूखंड हमारा पितर है/भूखंड से जो दाय हमको

किसी एक प्रजाति या संस्कृति की सुंदर वस्तु कोई दूसरी प्रजाति या संस्कृति में उसी रूप में सुंदर नहीं कही जाती। कहने का अर्थ यह है कि हरेक जाति या संस्कृति के लोगों की सौंदर्यबोध का एक ढाँचा (फ्रेम) बनता गया और उसी ढाँचे के अनुसार सुंदरता और कुरूपता को निरूपित किया जाने लगा। जो उस ढाँचे में फिट बैठता है उसे हम सुंदर तथा जो उसमें फिट नहीं बैठता उसे हम असुंदर कह देते हैं।

मिला है, मिलता रहा है। (नदी के द्वीप-अज्ञेय)। हाँ, यह कहा जा सकता है कि साहित्यकार या कलाकार सामान्य लोगों से ज्यादा संवेदनशील होता है। शायद जीवन और जगत में जितना सौंदर्य का बोध वह करता है, सामान्य जीवन में सामान्य लोग उतना नहीं कर पाते, इसलिए एक साहित्यकार या कलाकार केवल जीवन और जगत में व्याप्त सौंदर्य की ही अभिव्यक्ति नहीं करता अपितु स्वयं उसका सृजन भी करता है। साहित्यकार या कलाकार द्वारा सौंदर्य-वर्णन पढ़कर, सुनकर या देखकर सहृदयों के मन में सौंदर्य के अनुभव जागृत हो जाते हैं और वे उसपर अभिभूत हो जाते हैं। सामान्य लोगों का सौंदर्यबोध प्रसुप्तावस्था में होता है जबकि साहित्यकार या कलाकार का सौंदर्यबोध ज्यादा जागृत होता है या यह कह सकते हैं कि साहित्यकार या कलाकार सौंदर्य के प्रति ज्यादा सचेत होते हैं। इसलिए सामान्य लोगों के सौंदर्यबोध और साहित्यकार या कलाकार के सौंदर्यबोध में कोई तत्वत: अंतर नहीं, मात्रात्मक या संवेदनशीलतापरक अंतर भले ही हो।

सौंदयबोध का संबंध व्यक्ति की सहजात सुख-दुखात्मक (पेन एंड प्लेजर) अनुभूति से जोड़ा जाता है। जिन वस्तुओं से हमें सुखात्मक अनुभूति होती है उसे हम सुंदर कहते हैं तथा जिनसे हमें दुखात्मक अनुभूति होती है उन्हें असुंदर या कुरूप कहते हैं। इस दृष्टि से विश्व में सौंदर्य के जितने प्रतिमान बने हैं सबके मूल में सुख या प्लेजर की अनुभूति है तथा जिन चीजों को हम कुरूपता का पर्याय मानते हैं उनके मूल में दुखात्मक अनुभूति है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो वस्तुएँ हमें सुख प्रदान करती हैं वे सुंदर होती हैं तथा जो दुख प्रदान करती हैं वे कुरूप। हालाँकि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया सौंदर्य और कुरूपता के मौलिक कारण और जटिल होते गए। आज हर सौंदर्य और कुरूपता का उत्स ढूँढ पाना कष्टसाध्य है।

सौंदर्यबोध को हमारी उपयोगिता से भी जोड़कर देखा जाता है। जो चीजें हमारे जीवन के क्रम में सहायक या उपयोगी सिद्ध हुई हैं उनके प्रति एक सकारात्मक भावना विकसित होती गई और कालांतर में उनके प्रति सौंदर्यबोध विकसित होता गया। उपयोगितावादी सिद्धांत का समाहार सुखदुखात्मक अनुभूति वाली विचारधारा में किया जा सकता है क्योंकि उपयोगिता अंतत: हमारे सुख-सुविधाओं से ही जुड़ी होती है।

प्रकृति के प्रति हमारा सौंदर्यबोध भी उपयोगितावादी या सुख-दुखात्मक ही है। ये नदियाँ, पहाड़, जंगल, जीव-जंतु प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कई रूपों में हमारे जीवन के आधार हैं। यही कारण है कि उनके प्रति हम अपने हृदय में एक अनुराग का अनुभव करते हैं। हमारे दर्शनशास्त्र कुछ आगे बढ़कर ही इसकी बात करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य का शरीर प्रकृति का ही संघनित रूप है (यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे) और प्रकृति से प्रेम करना

अपने आपसे प्रेम करने जैसा है। प्रकृति का सौंदर्यबोध करना मौलिक रूप से अपने शारीरिक सौष्ठव का बोध करने के सदृश्य ही है।

सौंदर्यबोध के चाहे उपयोगितावादी कारण हों या सुख-दुखात्मवादी कारण ये सभी सौंदर्य के आदिम और सार्वभौम कारण हैं। इनके द्वारा व्यक्ति के सौंदर्यबोध की आधारभूत धारणाएँ विकसिक हुई जो सामान्य रूप से सबको प्रभावित और अभिप्रेरित करती हैं किंतु जैसे-जैसे सभ्यता और संस्कृति का विकास होता गया, सौंदर्यबोध के ये सार्वभौम उत्प्रेरक धूमिल होते गए और उनपर निजी सभ्यता, संस्कृति, जातीय और भौगोलिक परिवेशों का आवरण चढ़ता गया और कालांतर में सौंदर्यबोध के निर्माण में बहुत कुछ हमारी प्रजातीय अभिरुचि, सांस्कृतिक चेतना, धार्मिक विश्वास, प्राकृतिक प्रारूपण एवं सभ्यता आदि के उपादानों की अहम भूमिका होने लगी। किसी एक प्रजाति या संस्कृति की सुंदर वस्तु कोई दूसरी प्रजाति या संस्कृति में उसी रूप में सुंदर नहीं कही जाती। कहने का अर्थ यह है कि हरेक जाति या संस्कृति के लोगों के सौंदर्यबोध का एक ढाँचा (फ्रेम) बनता गया और उसी ढाँचे के अनुसार सुंदरता और कुरूपता को निरूपित किया जाने लगा। जो उस ढाँचे में फिट बैठता है उसे हम सुंदर तथा जो उसमें फिट नहीं बैठता उसे हम असुंदर कह देते हैं। हमें अपनी प्रजाति या संस्कृति के लोग अपेक्षाकृत ज्यादा सुंदर प्रतीत होते हैं। अफ्रीकी या नीग्रो जाति के लोग हमारी सौंदर्य दृष्टि में कुरूप दिखते हैं क्योंकि एक भारतीय के रूप में हमारे मन में सुंदरता का जो प्रारूप या फ्रेम बना है वह उस संस्कृति के प्रारूप या फ्रेम से मेल नहीं खाता। फिर भी इस जाति-विशेष सौंदर्यबोध के मूल में सुंदरता के कुछ सार्वभौम तत्व अवश्य मौजूद होते हैं जिसके कारण कुछ वस्तुएँ हमारी जाति, संस्कृति और भौगोलिकता के परे होकर भी सुंदर प्रतीत होती हैं। साहित्य या कला में सौंदर्यबोध के इसी सार्वभौम तत्व की अभिव्यक्ति का प्रयास होता है। जिस साहित्य या कला में इस सार्वभौम तत्व की जितनी अधिक अभिव्यक्ति होगी वह कला या साहित्य उतना ही सार्वजनीन, सार्वकालिक और वैश्विक होगा।

यह तो हुई सौंदर्यबोध की उत्पति की बात। जहाँ तक सौंदर्यबोध में परिवर्तन की बात है तो यह कहा जा सकता है कि इस जीवन और जगत में कुछ भी स्थायी नहीं है। समय के साथ सबकुछ परिवर्तित होता रहता है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है वैसे-वैसे व्यक्ति की जातीय एवं सांस्कृतिक अवधारणाएँ भी बदलती जाती हैं। इन अवधारणाओं में परिवर्तन के साथ व्यक्ति के सौंदर्यबोध में भी परिवर्तन होता रहता है और सौंदर्यबोध के परिवर्तन के कारण साहित्य या कलाओं में भी परिवर्तन होता रहता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार सौंदर्यबोध के परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण आर्थिक आधार में परिवर्तन है। उसका कहना था कि आर्थिक आधार के बदलने पर न केवल सामाजिक

ढ़ाँचा एवं लोगों के विचारों में परिवर्तन होता है, अपितु लोगों के सौंदर्यबोध और कला के उपादान भी बदलते जाते हैं। आज पूंजीवादी समाज में सब कुछ उपभोग्य वस्तु (कमोडिटी) और उपभोक्ता (कंज्यूमर) में बदल गया है। ऐसे में लोगों की भावनाएँ, लोगों की कलाएँ भी ज्यादा व्यवसाय-प्रवण हो गई हैं। शायद उपभोक्तावादी और उपयोगितावादी प्रवृति ने लोगों को ज्यादा वस्तुनिष्ठ और औपचारिक बना दिया है। आज भावुकता को कमजोरी और कठोरता को चरित्र की दृढ़ता का पर्याय मानने का चलन बढ़ता जा रहा है। इसलिए भाव के स्थान पर विचार को ज्यादा महत्त्व देना आरंभ हो गया है। कला से ज्यादा उपयोगिता को तरजीह दी जाने लगी है। सुख-सुविधाओं की चकाचौंध ने न तो आज मानव के जीवन में एकांत छोड़ा है न ही इससे इतर कुछ सोंचने समझने का अंतराल। आज लोगों के जीवन की सारी कविता, सारी कमनीयता, सारा संगीत, सारे उद्‌गीत क्षीण होते जा रहे हैं और मनुष्य ज्यादा से ज्यादा मशीन बनता जा रहा है, रोबोट होता जा रहा है और इससे आज की नवोदित पीढ़ी ज्यादा प्रभावित और संक्रमित दिखाई दे रही है।

वैसे तो हर पीढ़ियों की जीवन शैली और उसके सौंदर्यबोध में अपेक्षाकृत परिवर्तन हुए हैं, सौंदर्यबोध के जो मापदंड वैदिक काल में थे वही मध्यकाल में नहीं रहे। जो मध्यकाल में थे वही परवर्ती काल में नहीं रहे, परंतु सौंदर्यबोध के प्रतिमानों में जितने अधिक परिवर्तन आज हुए हैं उतने किसी काल में नहीं हुए। यदि हम नई पीढ़ी का सौंदर्यबोध देखें तो वह बिलकुल अलग हो गया है। अब सोलह सिंगार की पारंपरिक परिकल्पना खतम हो रही है। अब चौसठ कलाओं की अनिवार्यता लुप्त हो रही है। अब पारंपरिक आभूषण भारी होते जा रहे हैं। पुराने पोशाक जो एक समय सुंदरता के लिए आवश्यक माने जाते थे आज फालतू हो गए हैं। अब नई पीढ़ी बिहारीलाल की उस नायिक के सौंदर्य को नहीं पहचान पाती जो अपने लंबे नागिन से बालों को अपने हाथों से समेट, अपनी भुजाओं से झटककर पीठ की ओर फेंक देती थी और जब एक सहज कमनीयता के साथ अपने जूड़े बाँधती थी तो न जाने कितनों के मन उस जूड़े में बंध जाते थे। (कर समेटी कच भुज उलटी, खएँ सीस पर डारि। काको मन बाँधे न यह जूड़ो बाँधनिहारि।।)

आज न तो वैसे लंबे बाल रहे, न ही मन को बरबस बाँध लेने वाले जूड़े। न ही जूड़े बाँधनीहारी रहीं, न उनकी सम्मोहक अदाएँ। कहीं ऐसी दिख भी जाए तो नवोदित पीढ़ी उसे अपवाद स्वरूप या आउटडेटेड कहकर नाक-भौं सिकोड़ लेगी। और यदि ज्यादा प्रभावित होगी तो उसे एथनिक व्यूटी कहकर उसे मेन स्ट्रीम से काट देने का प्रयास करेगी। कभी मांसलता सुंदरता का पर्याय थी। अब वह भद्‌देपन का पर्याय का बन गई है। पुरानी लावण्यता के उपमान देखकर नवोदित पीढ़ी का ब्लडप्रेसर बढ़ने लगता है और माधुर्य के उपकरण देखकर सुगर।

जहाँ तक प्रकृति के प्रति नवोदित पीढ़ी के सौंदर्यबोध की बात है तो इसके बारे में यह कहा जा सकता है कि उसके कृत्रिम जीवन ने न तो उन्हें प्रकृति के सानिध्य में रहने का इतना अवकाश दिया है न ही उसके प्रति उतना अनुराग। उन्हें कृत्रिम जीवन ने प्रकृति से इतना दूर कर दिया है कि अब उन्हें प्रकृति के प्रति प्रेम तो दूर, प्रकृति का स्नेहिल स्पर्श भी बर्दाश्त नहीं हो पाता। यदि धूप छू दे तो उन्हें लू लग जाती है। वर्षा की बूंदें उनका स्पर्श कर ले तो ज्वर हो जाता है। कतकी पूनों किसी रात यदि प्यार से उन्हें अपनी चाँदनी का आँचल ओढ़ा ले तो उन्हें सर्दी लग जाती है। उनका जीवन अब वर्षा की बूंदो की छम-छम की जगह पॉप म्यूजिक को सुनना ज्यादा पसंद करती है। चाँदनी की रहस्यमयी शोभा को देखने के स्थान पर शहर की चकाचौंध को ज्यादा पसंद करती है। अब उनकी नींद 'खग-कुल का कुल-कुल' नहीं, एलार्म की टुन-टुन खोलती है।

नवोदित पीढ़ी में साहित्य के प्रति रुचि भी धीरे-धीरे विरल होती जा रही है। यदि जायसी की पंक्तियाँ उधार लेकर कहूँ तो कहा जा सकता है कि 'कोटि माहिं विरला जग कोई, जाहिं हृदय साहित्य रुचि होहिं।' आज की पीढ़ी को प्रिया-वियोग-विदग्ध यक्ष का प्रणय निवेदन एवं मेघ को दूत बनाकर अलकापुरी भेजना अतिशय भावुकता और पागलपन लगता है। क्योंकि आज मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रेमिका के पास भेजने की जरूरत नहीं, आज मेघ से पहले मोबाइल का मैसेज चला जाएगा। आज शायद कोई प्रेमी यक्ष की पुरानी परिपाटी का अनुसरण करते हुए अपनी प्रेमिका के पास मेघ को दूत बनाकर भेज भी दे तो आधुनिक नायिका समझ भी न पाए कि मेघ उसके छत पर पानी बरसा गया या उसके प्रेमी के आँसू। आज न तो किसी को 'हरी घास पर क्षणभर' बैठने की फुरसत है, न ही 'असाध्यवीणा' का अलौकिक संगीत सुनने की उत्कंठा। आज न 'संध्यासुंदरी' परी-सी आकाश से उतरकर उनका अनुराग बढ़ाती है और न ही विभावरी उनकी आँखों में विहाग भरती है। न 'अरुण-पंख तरुण-किरण' उनका 'खड़ी खोलती है द्वार' और उनसे बस एकबार जाग जाने का आग्रह करती है, न 'जूही की कली' किसी बिसरी हुई घटना का अहसास जिंदा कर जाती है। न नई पीढ़ी को कालिदास की कमनीय नायिका का सौंदर्यबोध होता है, न ही आज की तन्वंगी नायिकाओं के लिए उन्हें 'कलगी बाजरे की' जैसे कोई उपमान झकझोरते हैं। हालाँकि अद्यतन तन्वंगियों के लिए यह उपमान अभी पहले के उपमानों जैसे मैले नहीं हुए हैं बल्कि आज की नायिकाओं के लिए पहले से ज्यादा प्रासंगिक और सटीक हो गए हैं।

साहित्य के अलावे अन्य कलाओं के साथ भी ऐसी ही विरुचि दृष्टिगोचर होती है। आज न तो नवोदित पीढ़ी को शास्त्रीय गीत-संगीत आत्मा की गहराइयों का अहसास दिलाते हैं, न भरतनाट्यम् और कुचीपुड़ी जैसे नृत्यों की कमनीयता उनके रोम-रोम थिरकाती हैं।

यदि कुछ लोग इनमें रुचि लेते दिख भी जाएँ तो वे मुख्यधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि अपवाद स्वरूप हैं। सारांश यह कि आज लोगों का सौंदर्यबोध धीरे-धीरे छीजता जा रहा है, काव्यरुचि शनैः शनैः रीतती जा रही है।

हाँ, आजकल फेसबुक पर कुछ लोगों द्वारा कुछ तुकबंदियाँ तथा कविता जैसी भाषा में कुछ अस्फुट भावनाएँ परोसने का खब्त जरूर सवार है। आजकल पत्रिकाओं में भी अधिकतर जो साहित्य छपता है वह साहित्यिकता से हीन ही होता है। वे नई पीढ़ी के लोगों के सौंदर्यबोध को माँजने और उनकी साहित्य के प्रति रुचि को जागृत करने के बजाए उनमें वितृष्णा पैदा कर रही हैं। लोगों में सस्ती लोकप्रियता और किसी तरह छप जाने की उत्कंठा ने साहित्यिक गंभीरता को खतम कर दिया है। आजकल की अधिकांश कविताओं में न तो भावों की गंभीरता होती है न ही आलेखों में वैचारिक गहनता। साहित्य के प्रति रुचि रखनेवालों को भी ऐसे साहित्य से अरुचि होने लगे अन्य लोगों की तो बात ही दीगर है।

❑❑❑

होली क्रॉस स्कूल, अमृतपाली, बलिया-277001, उत्तरप्रदेश

नौवे दशक में भी सृजनकर्म में अत्यंत सक्रिय एवं उर्जावान साहित्यकार आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव जी 28 अक्टूबर, को 89 वर्ष पूरे कर लिए। उनके रचना कर्म की शुरुआत आचार्य शिवपूजन सहाय द्वारा संपादित मासिक पत्रिका 'बालक' में प्रकाशित निबंध 'मंदार पर्वत' से हुई थी तब से अनवरत वे साहित्य सेवा में रत हैं। वे पूर्व में जैन एवं प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली में व्याख्याता के रूप में कार्य कर चुके हैं। दीर्घ काल तक राष्ट्रभाषा परिषद् से जुड़े रहे। बिहार सरकार के उपनिदेशक (शोध) से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त वे स्वतंत्र साहित्य सेवा में लगे हैं। वर्तमान में बिहार साहित्य सम्मेलन के प्रधानमंत्री हैं। वे साहित्य यात्रा के परामर्शी भी हैं। साहित्य यात्रा परिवार की ओर से हम उनके जन्म दिवस के अवसर पर हार्दिक शुभकामनाएँ प्रदान करते हैं तथा उनके दीर्घ जीवन की प्रार्थना करते हैं।

नागार्जुन के काव्य में चित्रित यथार्थ

● डॉ० कुमारी चम्पा

आजाद भारत में सर्वत्र भ्रष्टाचार को देखकर ऐसे कवि का हृदय मर्माहत हो उठता है। इनकी दृष्टि में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में सर्वाधिक हाथ नेताओं का है। इसीलिए इन्होंने नेताओं के चरित्र का सर्वाधिक चित्रांकन किया है।

जो चीज जिस रूप में दिखाई देती है, उसका उसी रूप में चित्रण करना 'यथार्थ' के नाम से जाना जाता है। बृहत हिन्दी कोश के अनुसार ''साहित्य-सेवियों का यह सिद्धांत कि गुण-दोषमय इस संसार में हमें जो वस्तुएँ जिस रूप में दिख पड़ती हैं, उसका उसी रूप में चित्रण करना चाहिये''। लेकिन सच्चाई यह है कि अपने पारिभाषिक अर्थ में यथार्थवाद जीवन की सम्यक् परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्राय: सदैव मनुष्य की हीनताओं तथा कुरूपताओं का ही चित्रण करता हैं ऐसे साहित्यकार जीवन के सुन्दर अंश को छोड़कर असुन्दर अंश का ही अंकन करना चाहते हैं। सचमुच यथार्थ चित्रण के माध्यम से साहित्यकार पाठक के मन में आक्रोश पैदा करना चाहता है जिससे समाज में बदलाव हो सके। हिन्दी में यथार्थ चित्रण की परम्परा अत्यन्त पुरानी है। लेकिन नागार्जुन को यथार्थ के चित्रण में जैसी अद्‌भुत सफलता मिली है, वैसी सफलता हिन्दी के कम साहित्यकर्मियों को प्राप्त हो सकी है। इन्होंने तो स्पष्ट रूप में घोषणा ही कर दी-

''जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ?
जनकवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों कहलाऊँ?''

ये आम आदमी की तरह जीवन व्यतीत करते हुए आजीवन आम आदमी के लिए लिखते रहे। इनका अनुभव संसार अत्यन्त विस्तीर्ण है। इन्हें परमात्मा ने लम्बी आयु दी थी। जीवन-जगत के हर बिन्दुओं पर इनकी पैनी दृष्टि गई है और सभी का इन्होंने सजीव चित्रण गया है। नेता, पुलिस, सेठ-साहूकार, मुखिया, सरपंच, दलाल, पूँजीपति, ढोंगी ब्राह्मण, नकली

साहित्यकार, धर्म के ठेकेदार, किसान, मजदूर-सभी को इन्होंने अत्यंत नजदीक से देख-परखा है।

आजाद भारत में सर्वत्र भ्रष्टाचार को देखकर ऐसे कवि का हृदय मर्माहत हो उठता है। इनकी दृष्टि में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में सर्वाधिक हाथ नेताओं का है। इसीलिए इन्होंने नेताओं के चरित्र का सर्वाधिक चित्रांकन किया है। कवि ने अपने समय के नेताओं का हू-ब-हू चित्र अंकित किया है। इन्होंने सभी दल के राजनीतिज्ञों की पोल खोली है; लेकिन सर्वाधिक निशाना कांग्रेसियों पर साधा है-

''कांग्रेसजन तो तेण कहिए, जो जे पीर आपणी जाणे रे

पर दुःख में अपना सुख साधे, दया भाव न आणे रे।''[3]

ये दो पंक्तियाँ ही कांग्रेसियों के चरित्र को उजागर करने के लिए काफी हैं। आज कुछ अपवादों को छोड़कर ज्यादातर विधायक, सांसद एवं मंत्री वही बनते हैं, जो सभी दृष्टियों से चरित्र भ्रष्ट होते हैं। अनपढ़ एवं गँवार आदमी भी गुण्डागर्दी के बल पर मंत्री के पद तक पहुँच जाता है। ऐसे मंत्रियों का जीता-जागता चित्रण करने में नागार्जुन जैसे कवि ही सफल हो सकता है-

''अभी-अभी उस दिन मिनिस्टर आए थे

बत्तीसी दिखलाई थी, वादे दुहराए थे

भाखा लटपटाई थी, नैन शरमाए थे

छपा हुआ भाषण भी पढ़ नहीं पाए थे

जाते वक्त हाथ जोड़ कैसे मुस्कुराए थे''।[4]

ऊपर की पंक्तियों के एक-एक शब्द में मंत्रीजी के एक-एक चित्र हमारी आँखों के सामने नाचने लगते हैं। दृश्य बिम्ब का ऐसा उदाहरण मिलना अन्य कवियों में दुर्लभ है। आज भी अधिकांश मंत्रियों की कमोवेशी यही हालत है।

सरकार जो भी घोषनाएँ करती हैं, उसका लाभ आम जनता को बहुत कम ही मिल पाता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जनता तक पहुँचते-पहुँचते उसके हिस्से में कई प्रकार के लोगों द्वारा बन्दरबाँट किया जाता है। किसानों और मजदूरों की हालत बद से बदतर होती जा रही है। इसका यथार्थ चित्रण कवि ने इन शब्दों में किया है-

''मँडराती है यम की नानी खेतों में, खलिहानों में

भूख-अकाल महामारी की फसल उगी मैदानी में

लूट-पाट की होड़ मच गई नरभक्षी हैवानों में

लटक रहा है ताला गल्ले की सरकारी दुकानों में।।''[5]

गुलाम भारत की आम जनता को ऐसा लगता था कि आजादी मिलने के बाद हमलोगों की स्थिति में सुधार अवश्य होगा। आजादी के बाद लोकतंत्रीय व्यवस्था पर लोगों की आशा थी; लेकिन लोकतंत्रीय व्यवस्था के लागू हो जाने के बाद आम जनता की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण था कि नेता एवं अधिकारी अपनी सारी शक्ति का दुरूपयोग करके दलाली एवं घोटाला में लगे हुए थे। इसका चित्रण कवि ने 'लोकतंत्र के मुँह पर ताला' नामक छोटी-सी कविता में किया है-

''लोकतंत्र के मुँह पर ताला

द्वारे पर मकड़ी का जाला

बैठ गया है अफसर आला

पागलों से पड़ना था पाला

कहीं दलाली कहीं घुटाला।''[6]

आज भी भारत में सर्वत्र यही स्थिति है। यह कटु सत्य है कि गरीब से लेकर अमीर सभी का जीवन अन्न पर ही निर्भर करता है और अन्न किसान ही उपजाते हैं। लेकिन सत्य है कि किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। हजार प्रयासों के बाद भी आज तक इनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया है। यही कारण है कि आज भी भारत में किसान आत्महत्या करने के लिए विवश हैं। नागार्जुन ने किसानों की दशा का अत्यंत ही मार्मिक चित्रण किया है।

''बीज नहीं है, बैल है, वर्षा बिन अकुलाते हैं

नहर रेट बढ़ गया, खेत में पानी नहीं पटाते हैं

नहीं भूमि में कनमा भर दाना उपजा पाते हैं

पिछला कर्ज चुका न सके, साहू की झिड़की खाते हैं।''[7]

यह कविता 1953 में लिखी गयी थी। उस समय बैल से ही खेती होती थी। कुछ लोग कह सकते हैं कि आज बैल का जमाना नहीं है। अब तो ट्रैक्टर एवं पावर टीलर से खेती होती है। यह ठीक है लेकिन छोटे किसानों की हालत वही है। वे कर्ज लेकर ही अपना काम चलाते हैं।

भारत की महान विभूति विनोवा भावे ने सबके कल्याण हेतु 'सर्वोदय' और 'भूदान' का कार्यक्रम चलाया। इसमें अमीर लोग विनोवा जी को ऊपर और बंजर भूमि ही दान के रूप में दे रहे थे। इस सच्चाई का सजीव चित्रण कवि ने इन शब्दों में किया है–

''बाँझ गाय बामन को दान हरगंगे
मन ही मन सुख है जजमान हरगंगे
ऊसर बंजर और श्मशान हरगंगे
संत विनोवा पावैं दान हरगंगे।''[8]

साहित्य जगत में भी सदा से भारी तिकड़मबाजी चलती रही है। नागार्जुन के समय में भी लोग जुगाड़ भिड़ाकर नामी साहित्यकार बन जाते थे और प्रतिभाशाली साहित्यकार को कोई पूछने वाला नहीं रहता था। यह परम्परा आज भी अच्छी तरह से जीवन है। पैसे और पैरवी के बल पर नकली रचनाकार भी अच्छे-अच्छे पुरस्कारों को पाने में सफल हो जाते हैं सही साहित्कार मुँह ताकते रह जाते हैं। वैसे नकली साहित्यकारों का भी यथार्थ चित्रण नागार्जुन ने किया है–

''डायरियों में दिल की बाते लिखते रहना
सुरुचि सभ्यता की धारा में बहते रहना
गरम-गरम कविताएँ रचना नाम बदलकर
तुमको तो जनता पूजेगी आगे चलकर।''[9]

यह सामाजिक सत्य है कि आज लोग विवाह के अवसर पर पानी की तरह पैसे बहाते हैं। वे पैसे दहेज के रूप में ही लिये गये होते हैं। कानूनी दृष्टि से दहेज लेना-देनां दण्डनीय है। लेकिन जो लोग नियम बनाने वाले हैं, वे भी इसका खुलकर उल्लंघन नहीं करते हैं। दहेज में कमी रह जाने के कारण आज भी अनेक महिलाओं को जबरन जला दिया जाता है। फिर भी इस प्रथा को लोग समाप्त करने में बिल्कुल असमर्थ हैं और विवाह के अवसर पर बाह्याडम्बर में काफी रुपये खर्च कर डालते हैं। दूसरी ओर गरीब लोग विवाह-परिसर के बाहर जूटी पत्तल चाटने के लिए भी विवश हैं। ऐसे प्रदर्शन का आँखों देखा चित्रण कवि ने किया है–

''शादी क्या है, वैभव का है यह उन्मत्त प्रदर्शन
रेशम की यह चकाचौंध, मणिमुक्ता का उद्दीपन

चाट रहे हैं कुछ प्राणी बाहर जूठन के दोने

चहक रहे हैं अंदर ये लक्ष्मी के पुत्र सलोने।''[10]

नागार्जुन की सूक्ष्म दृष्टि नारियों की दयनीय दशा पर भी गई है। उन्होंने 'तालाब की मछलियाँ' नामक कविता के बहाने नारियों की वास्तविक स्थिति का चित्रण किया है। वे मछली से स्त्रियों की तुलना करते हैं कि दोनों ही उपभोग की वस्तुएँ हैं-

''हम भी मछली, तुम भी मछली

दोनों ही उपयोग की वस्तु हैं

ज्ञाता स्वाद सुधीजन, सजनी हम दोनों को

अनुपम बतलाते हैं।''[11]

भारतीय संस्कृति आशावादी है। नागार्जुन भी आशावादी कवि हैं। उन्हें भी विश्वास है कि एक-न-एक दिन समाज में बदलाव अवश्य होगा और सर्वत्र शन्ति फैलेगी-

''सबके मुँह पर अतुल कांति हो!

हटे दनुजदल

मिटे अमंगल

जल, थल, नभ सर्वत्र शान्ति हो!''[12]

निष्कर्षत: यह नि:संदेह कहा जा सकता है कि कवि की लेखनी दूरबीन लगाकर दसों दिशाओं को देखती हैं और यथार्थ का वास्तविक चित्रण करती हैं। इस चित्रण में माध्यम से वे 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' की कामना करते हैं।

संदर्भ :

1. बृहत हिन्दी कोश, सम्पादक कालिका प्रसाद, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी सप्तम संस्करण-1992, पृ०-925
2. नागार्जुन रचनावली, भाग-01, सम्पादन-संयोजन, शोभाकान्त राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पटना, पहला संस्करण-2003, पृ०-400
3. वही, पृ०-213

4. वही, पृ०–236

5. वही, पृ०–237

6. नागार्जुन रचनावली, भाग–2 पृ०–395–96

7. नागार्जुन रचनावली, भाग–01 पृ०–230

8. वही, पृ०–227

9. वही, पृ०–259

10. वही, पृ०–324

11. वही, पृ०–113

12. वही, पृ०–310

❑❑❑

शिक्षिका, एस०एस० बालिका उ०मा०वि०, बिहारशरीफ, नालंदा।

लेखकों से अनुरोध

❶ मौलिक तथा अप्रकाशित–अप्रसारित रचनाएँ ही भेजें।

❷ रचना फुलस्केप कागज पर साफ लिखी हुई अथवा शुद्ध टंकित मूल प्रति भेजें।

❸ रचनाकार/लेखक अपना पूरा परिचय, पता, फोन नम्बर एवं फोटो साथ भेजें।

❹ लेखकों से निवेदन है कि लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रखें।

❺ रचना के साथ उसके मौलिकता का प्रमाण पत्र भेजें।

ई–मेल : sahityayatra@gmail.com

कृष्णधर्मा प्रभाखेतान

● प्रज्ञा त्रिवेदी

समकालीन साहित्य में प्रभा खेतान ने अपनी जगह कठिन परिस्थितियों के बीच से गुजरते हुए निर्मित की है और ऐसी कठिन परिस्थितियों के बीच से जो एक ओर स्त्री कवयित्री होने की उपेक्षा है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत जीवन में भी लीक से हटकर जीवन-निर्वाह करने की विषमता है। वस्तुतः स्त्री-विमर्श को इन्होंने जीवंतता प्रदान की है क्योंकि भोगे हुए सत्य की अभिव्यक्ति में संवेदना आकार प्राप्त करती है जो साहित्य के लिए हितकर है।

1 नवम्बर, 1942 को जन्मी प्रभा खेतान ने दर्शनशास्त्र से एम.ए. और 'ज्यॉ पॉल सार्त्र के अस्तित्ववाद' पर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। वस्तुतः प्रभाजी ने अपना लेखन-कार्य 12 वर्ष की उम्र से ही प्रारंभ कर दिया था किंतु विधिवत लेखन-कार्य सन् 1981-82 के आस-पास प्रारंभ किया। इनका रूझान साहित्य की किसी एक विधा में न होकर बल्कि अनेक विधाओं में रहा है जैसे-कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा एवं विशिष्ट अनुवाद आदि। अब तक इनके छः कविता-संग्रह-अपरिचित उजाले (1981) सीढ़ियाँ चढ़ती ही मैं (1982) एक और आकाश की खोज में (1985) कृष्णधर्मा मैं (1986) हस्नोबानो और अन्य कवितायें (1987) और अहिल्या (1988) आदि प्रकाशित हो चुके हैं।

कृष्णधर्मा मैं' प्रभा जी की लंबी कविता है जिसमें कवयित्री ने मूर्त से अमूर्त की यात्रा करते हुए कहीं-कहीं बिल्कुल अमूर्त से ठोस अपने वैयक्तिक अनुभव-क्षेत्र की भी यात्रा की है। उनकी इस लंबी कविता में कृण कहीं मानवीय रूप में, कहीं आस्था रूप में विद्यमान हैं। इनकी इस कविता से गुजरते हुए एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि कवयित्री को जीवन उतार-चढ़ाव ने जो रूपाकार प्रदान किया है उस रूपाकार में साकार-निराकार, सुख-दुख, आस्था-अनास्था, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष का द्वंद्व लगभग समाप्तप्राय है और एक स्तर पर आकर इनका व्यक्तित्व कृष्णमय हो उठा है-

परम पुरूष!
महेश्वर!
तुम ही तो रूपायित इस शरीर में
पर क्या करूँ मैं अपने इस अंहकार का?
अपनी इस आत्मनिष्ठा का
जो अहंस्रोत है
मेरे आंतर में क्रियाओं प्रक्रियाओं को?1

समकालीन साहित्य में प्रभा खेतान ने अपनी जगह कठिन परिस्थितियों के बीच से गुजरते हुए निर्मित की है और ऐसी कठिन परिस्थितियों के बीच से जो एक ओर स्त्री कवयित्री होने की उपेक्षा है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत जीवन में भी लीक से हटकर जीवन-निर्वाह करने की विषमता है। वस्तुतः स्त्री-विमर्श को इन्होंने जीवंतता प्रदान की है क्योंकि भोगे हुए सत्य की अभिव्यक्ति में संवेदना आकार प्राप्त करती है जो साहित्य के लिए हितकर है। उनका यह कहना किस हद तक स्त्री-विमर्श की गहराई एवं सत्यता को खंगालता है-

मैं चल पड़ी हूँ एक बार फिर
दूर-दूर तक समुद्र को कैद करने की सीमा में
पहाड़ों की कग़ारों पर क़दम रखती हुई वह पथिक हूँ मैं
जो हो जाना चाहता
खुद अपना रास्ता2

आज की स्त्री सिर्फ घर की चारदीवारी में कैद घर के काम-काज तक ही सीमित नहीं रहना चाहती है बल्कि बाहरी दुनिया में भी दखल देकर अपने अस्तित्व को उतनी ही पहचान देने के लिए बेताब है जितनी की वह वास्तव में हकदार है-

मैं कुछ और ही होना चाहती हूँ
एक जंगल, एक घास का मैदान
एक गली-उस गली का आखिरी मकान
या फिर गली के अंत में
चौड़ी सड़क पर
बिछा हुआ बाज़ार

या फिर शहर की तेज़ रफ्तार में

दौड़ने वाली मिनी बस
इस कोने से उस कोने तक
जाती हुई
परिचित अपरिचितों से बात करती हुई
हो जाना चाहती हूँ मैं
चमकती हुई धूप, उजली हँसी3

भले ही स्वतंत्रता में कितनी बाधायें क्यों न आयें पर यह एक ऐसी स्वतंत्र वेदना है जिसमें स्त्री का सारा व्यक्तित्व द्वेष और ईर्ष्या से छलनी होकर भी पराजित नहीं होना चाहता है–

लगातार छटपटाती रही
अभिमन्यु की तरह
बिंधाती हुई
ईर्ष्या द्वेष के बाणों से
हत्या व्यवसायी शत्रुओं के घात–प्रतिघातों से
मारी जाती रही युद्धरत4

प्रभा खेतान ने अपने काव्य–साहित्य से ही नहीं, बल्कि कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि के माध्यम से स्त्री विमर्श को एक नई दिशा देने में योगदान दिया है और समाज की उन मूल समस्याओं की ओर भी ध्यान आकृष्ट कराने का अतुलनीय प्रयास किया है जहाँ आवश्यक है मनुष्य में मनुष्यता का बचा रहना, जो स्त्री–विमर्श या पुरूष–विमर्श के पक्षपात से परे है और जिसमें सिर्फ भेदभाव रहित वातावरण निर्मित हो सके।

संदर्भ–

1. खेतान, प्रभा, कृष्णधर्मा मैं, पृष्ठ–20
2. वही, पृष्ठ–11
3. वही, पृष्ठ–13
4. वही, पृष्ठ–14

❑❑❑

मनुजपुत्र हंसता है

● उषाकिरण खान

"मैं संभाल लूंगी।" कहा था हेलिया ने। उसने संभाल भी लिया था बरसात के बाद फिर राघो आया था। घर ठीक करना, धान-पान जमा करना, आगे की खेती का जुगाड़ कर दो-तीन माह में कलकत्ता चला गया। राघो के साथ सभी भूमिहीन या ऐसे एक दो बीघे जमीन वाले मजदूर किसानों का यही तरीका था।

उस दिन राघो हेमिया को गौना करा के ला रहा था। उस दिन इसी तरह कई दिनों की बारिश के बाद धूप निकली थी। नदवाँ स्टेशन पर गाड़ी से उतर कर दोनों जाने चले थे। हेमिया के माथे पर दौरा था जिसमें पकवान सौगात के लिए था। दौरा लाल-मैलछौंहे कपड़े से बंधा था जो उसकी पुरानी घघरी का टुकड़ा था। सुच्चा सरसों तेल में गुड़ और चावल का पकवान अनरसा जैसा था जिसकी खुशबू रास्ते भर इसके नथुनों को फकराती रही थी। एकाध गोल पत्थर पर हेलिया का पैर फिसला तो राघो ने थाम लिया और हँसकर घूँघट उठाकर चलने की सलाह दी।

"यहाँ कौन है पहचानेवाला? किसके सरम से झुकी जा रही है। देखकर चल, नहीं तो मुँहकान टूट जायेगा पत्थरों से टकराकर। मुँह दिखाई में ले गया कहेंगे कि रघुआ अपनी कनियाँ को रास्ते से ही शासन करता आया है।"

"धत्त।" कहा था हेमिया ने और घूंघट छोटा कर लिया था। दोनों बेमतलब हँस पड़े थे। सामने एक जोहड़ था उसके किनारे कई बड़े चौड़े और गोल पत्थर थे। राघो पत्थर पर बैठ गया और उसे भी बैठने को कहा।

"आधा कोस की दूरी है गाँव की। सँझवाती तक पहुँचना है। तब तक यही बैठकर कुछ खा पी लें। निकाल पकवान।" हेमिया ने उसके हाथोंवाली टीन की बकसिया की ओर उंगली उठाई।

"क्या है इसमें?" हेमिया ने इशारा किया, ''लोटा।''

"अब तू इशारेबाजी छोड़, मुँह से बोल।" वह हँसने लगी थी।

"ओहो, तो तुझे मुँहबोली की सौगात मिलेगा तभी बोलेगी।"

"धत्त।" कहा उसने।

"बोल तो दिया, चल मैं अभी दे देता हूँ।" उसने पाकेट से एक पुड़िया निकाली जिसमें रंगीन मोतियोंवाली पीतल की माला थी उसे वह अपने हाथों हेमिया के गले में डाकर उसे नजरभर देखा।

"तू तो बिल्कुल हेमा मालिनी जैसी है, शादी के टैम कैसी गुलभंटी थी?" दोनों हँसने लगे। हेमिया ने घूंघट डालने की कोशिश की। बकसिया में एक मोटी लकड़ी लगी थी जिसे निकाल खोला गया उसमें से लोटा और थाली निकाले गये- नया और चमचम करता हुआ। फिर बंदकर वह लकड़ी खोजने लगी। राघो को हँसी आ गई। "मैं कलकते से ताला ला दूँगा। ई लकड़ी फकड़ी का।" हेमिया ने अलग से रखी दालपूड़ी और अचार थाली में रखकर खाने को दिया। लोटे में पानी रखा जोहड़ से निकाल कर। राघो जोहड़ में उतर कर हाथ पाँव धो आया। पहले राघो ने खाया, फिर उसी थाली में अपना पैर धोया रबर के जूते धोये और पहन कर चलने को तैयार हो गया। घर पहुँचने के पहले दौरा अपने सिर पर रख लिया और बकसिया हाथ में। हेमिया घूंघट लंबाकर चलने लगी। आँगन में हचलच मच गई। स्वागत गीत देवीगीत के साथ गृहप्रवेश हुआ। बहनों ने नेग के लिये दुआर छेंका। राघो हँसते-हँसते सबों के हाथों में रेजगारी थमाने लगा। उपालम्भ देती बहनों ने खुद दरवाजा खोलकर वर-वधू को कोहबर घर में जाने दिया। हेमिया की गृहस्थी खुशी-खुशी चलने लगी। ससुर थे नहीं, सास थीं। ननदें थीं। ननदें सारी ससुरवास थीं, वे गौने का नेग न्योछावर ले पायल, छींट साड़ी, झुल्ला पहन अपने-अपने घर चली गईं। राघो एक महीने रहा। अपनी डेढ़ बीघे की जोत में धान और मड़ुआ रोपकर कलकत्ता चला गया।

"अम्मा खेत संभाल लेती है। दोनों गाय और बैल तुम संभाल लेना। घर तुम संभाल लोगी तो अम्मा को खेत से दौड़कर घर नहीं आना पड़ेगा।" राघो ने जाने से पहले समझाया था।

"मैं संभाल लूंगी।" कहा था हेलिया ने। उसने संभाल भी लिया था बरसात के बाद फिर राघो आया था। घर ठीक करना, धान-पान जमा करना, आगे की खेती का जुगाड़ कर दो तीन माह में कलकत्ता चला गया। राघो के साथ सभी भूमिहीन या ऐसे एक दो बीघे जमीन वाले मजदूर किसानों का यही तरीका था। दस साल बीत गये हेमिया की ननदें टोना मारने लगीं- "हमारा नैहर उजड़ रहा है। यह बाँझ है।" राघो और हेमिया पटना जाकर डॉक्टरी जाँच करा आये। हेमिया में कोई खराबी निकली। दवा दारू हुआ पर कोई फायदा

नहीं हुआ। धीरे-धीरे सबकुछ पटरी से उतर गया। राघो ने एक बीघा और जमीन खरीद कर उसने अपनी बहन की ससुराल की एक लड़की से शादी कर ली और वह लड़की जब गर्भवती हुई तब हेमिया को बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। हेमिया का नैहर एक तो गरीब था दूसरे माँ बाप जिंदा नहीं थे। वह पंचायत में गई। पंचायत ने निर्णय दिया कि इसे एक घर बना कर रहने का इंतिजाम किया जाय और खोरिज दिया जाय।

जोहड़ के किनारे वाले डेढ़ कट्ठे के नये खरीदे प्लाट पर एक झोपड़ी खड़ी कर दी गई, एक खाट दी गई, कुछ बर्त्तन दिये गये और हेमिया अपनी बकसिया के साथ उस निर्जन में झोपड़ी को घर बनाकर रहने लगी। वहाँ रहते एक हफ्ता भी नहीं बीता कि एक दिन सुबह-सुबह बच्चे की रोने की आवास हेमिया ने सुनी। पहले तो इसे लगा कि राघो के बच्चे की किलकारी सुनने की दबी हसरत ने मन में भ्रम पैदा कर दिया है। लेकिन स्वर तेज होता गया यह झोपड़ी से बाहर निकली। एक बड़े से मान के पत्ते पर एक नंगी बच्ची पड़ी चीख रही थी। हेमिया ने दौड़कर उसे उठा लिया। सीने से लगाये अपनी झोपड़ी में आ गई। बच्ची सद्यःजात थी। इसकी गोद में आकर चुप हो गई। उसने अपनी साड़ी में उसे लपेटा और सीधे सरपंच के घर गई। उनकी पत्नी को सारा वाक्या सुनाया।

"अरी किसी की अधरम की औलाद होगी। पर बेटी, तू इसे पाल ले। तेरे जीने का सहारा है यह।" उन्होंने कहा।

..... पाल लूँ अम्मा? मेरे पास क्या है?"

अगर तेरे पास कुछ न होता और तेरी अपनी बेटी होती तो क्या उसे मरने छोड़ देती?"

"कोई रास्ता बताओ अम्मा, सरपंचजी से पूछो न!" हेमिया को सरपंच जी ने एक दुधारू गाय पालने के लिए दे दी और अपने आँगन में कूटने पीसने का काम दे दिया। सचमुच हेमिया के जीवन में बहार आ गई। उधर राघो के आँगन में बेटी-बेटों की सात बार किलकारी गूँजी इधर हेमिया की बेटी आठ साल की हो गई। हेमिया ने उसका नाम रखा 'जिउनी' पर गाँव-जबारवाले मुफतिया कहते। सरपंच जी के कहने से हेमिया ने जिउनी का नाम स्कूल में लिखा दिया। था। घर का काम उससे कम कराती, स्कूल की पढ़ाई के बाद मास्टर जी से पढ़वाती। उसके एवज में रात का खाना उन्हें अपने यहाँ खिलाती। खाना लेकर जिउनी जाती, मास्टरजी उसे पढ़ा देते वह आ जाती। राघो के बच्चे भी स्कूल आते। वे अक्सर इससे रार करने पर तुले रहते। हेमिया ने इसे शांत रहने की सीख दी थी। जिउनी को दूसरे लोग उसके बारे में बताते उससे पहले ही हेमिया ने उसे सबकुछ बता दिया था कि वह हेमिया को किस प्रकार प्राप्त हुई थी। जिउनी अभी ये सब बातें समझने लायक नहीं हुई थी। सो उसने सुना भर।

एक गाय से कई गायें हो गईं। अधिया पर जो गाय उसने ली थी उसके अलावे उसे अपनी भी मिल गई। अपने घर आँगन में कई तरह की सब्जी और फल का बाग लगा लिया था जो खूब फलने लगी थी। फल-सब्जी खुद खाने के अलावे सरपंचजी के घर पहुँचा देती थी। उसका कोई हिसाब नहीं करती थी। वह मानती थी कि सरपंच और उनकी पत्नी की कृपा से हेमिया जी रही है। एक दिन शाम के समय हेमिया ने लालटेन साफ कर जलाई और घिड़ौची के पास रख दी। जिउनी पढ़कर आ गई थी। सरपंच जी की सख्त हिदायत थी कि जिउनी मास्टर से पढ़कर अंधेरे से पहले अपने झोपड़े पर चली जाय। डेढ़ कट्ठे के अपने उस प्लाट को टाट से घेर लिया था हेमिया ने। उसने पास ही जोहड़ था जिसके किनारे पत्थर पर कभी बैठकर पहली बार हेमिया और राघो ने साथ-साथ खाना खाया था। कभी-कभी वह वहाँ जाकर बैठ जाती। आज भी बैठ गई थी। लालटेन की रोशनी में चटाई बिछाकर जिउनी पढ़ रही थी। हेमिया को लगा कोई आवाज लगा रहा है। वह पीछे मुड़ी देखा- फटी लुंगी और फटी गंजी में मैला-कुचैला राघो खड़ा है। राघो के बाल बेतरतीब थे, वह बेहद दुबला हो गया था। हेमिया उठ खड़ी हुई। उसने दस सालों से उसे देखा नहीं था। पहचानने में दिक्कत हुई।

"तुम तो वैसी ही छैल छबीली हो।" राघो ने बैठकर हँसते हुए कहा। हेमिया उसे ताकती रही।

"तुम बीमार हो क्या?" हेमिया ने पूछा

"नहीं ठीक हूँ। तुमने कभी सुध ही न ली।"

"उल्टा बोलते हो?"

"नहीं, सच कहता हूँ। आखिर यह जमीन, यह घर मेरी है न, यहाँ तुम को रहने दिया। तुम इतना इसी के बल पर न कमाती हो।" वह गहरी नजर से हेमिया को देखने लगा। हेमिया को उसका कहना अच्छा नहीं लगा।

"तुमने रहने को एक झोपड़ी दी थी, मैं मजदूरी करके कमाके जिंदा हूँ। तुम्हारी औरत हूँ सो .....।"

"अरे कैसी औरत, किसके पाप को पाल रही हो। यह नहीं होता कि कुछ हमारे बच्चों के लिए करो।"

"तुमने मुझे अपने आँगन से इसलिए निकाल दिया था कि मेरी छाया न पड़े तुम्हारे नये संसार पर तो कैसे आती! क्या कभी छट्ठी-छिल्ला में बुलाया?"

"चलित्तर जादे न दिखाना, ई मरदुआ को तो मुँह में जबान हइये नहीं है। अरे सीधे-सीधे कहो कि हमारा जमीन में हो तो अधिया बाँट के दूध, फल, तरकारी पहुँचाओ, न तो झोंटा पकड़ के निकाल बाहर करेंगे।" राघो की दूसरी बीबी वहाँ फुफकारती पहुँची। इसे कभी हेमिया ने ठीक से देखा तक नहीं था। वह हक्की-बक्की रह गई।

"तू काहे आई, हम ढंग से कह ही रहे थे न?"

"अरे तुम कहते तो ईहे गति होता। इसको एतना बड़ा जमीन का कित्ता दे दिये हमारा आठ गो नूनू का क्या होगा? साफ बात, सभे कुछ रोजिना पहुँचाये न तो निकल जाये हमारे जमीन से।" हेमिया जब से इस गाँव में आई किसी ने उसकी ऊँची आवाज नहीं सुनी थी। राघो की बीबी के रूप में वह उसका मान बढ़ाती रही। एक बेसहारा बच्ची को अपने बल-बूते पालती रही। जिउनी शोर सुन निकल आई बाहर। हेमिया के पास आ खड़ी हुई। वह औरत जिउनी की लम्बी चोटी पकड़ घसीटने लगी। यह देखकर हेमिया चण्डी बन गई। उसने हाथ से जिउनी की चोटी छुड़ा राघो के सामने आ खड़ी हुई।

"अभी तक मैं चुपचाप सह रही थी अब नहीं। निकाल के तो देखो इस जगह से मुझे। मेरा हक तुम्हारे जमीन पर है कि नहीं। बोलो।"

"ये का बोलेगा। हमसे बात कर यहाँ उनेरूआ पाल के बैठी है हक लेने।"

"सुनो जी, तुम बोलो, नहीं तो चलो इजलास पर। हम तुम्हारी ब्याहता हैं।" हेमिया कड़क कर बोली।

"अरे ऊ माटी के माघो से का पूछती है हमसे बात कर।" छाती ठोंक कर दूसरी औरत ने कहा।

"बियाह कर यही लाया था। खोरिस इसी को देना था। हम पहले दिन से ही नहीं ले रहे हैं। यही बोले। तुम चुप क्यों हो?"

"हम क्या करें, आठ बच्चों का भरन-पोसन नहीं पार लगता है तो ये बौराई है। इसी लिये तो कह रहे थे ...।" राघो बोला। राघो के बोलने से उस औरत की बोलती बंद हो गई। बोलती तो हेमिया की भी बंद हो गई। वह कैसे कहे डेढ़ बीघा जमीन की जोत वाले को आठ बच्चों की क्या जरूरत थी? दोनों औरतें अपनी कोख की मारी थी। एक बिना उसमें बच्चा पाले, दूसरी बारबार पाल कर। तीसरी वह थी जिसने जिउनी को जन्म देकर फेंक दिया था। मनुजपुत्र क्या करे - यही कहकर मुँह छुपाकर हँस रहा है।

❑❑❑

विक्रमार्क, बुढ़िया और सराय रोहिल्ला

● हरीश नवल

विक्रमार्क ने हठ नहीं छोड़ी और एक बार फिर बेताल का शव पेड़ से उतार कंधे पर लादा और सदा की भाँति मौन अपनी राह पर चल पड़ा। बेताल ने कुछ देर बाद कहा, 'मुझे तुम पर तरस आता है। तुम्हारा रास्ता काटने के लिए आज तुम्हें मैं तुम्हारी राजधानी दिल्ली का एक किस्सा सुनाता हूँ। दिल्ली का एक आम इलाका है सराय रोहिल्ला, वहाँ बशेशरनाथ अपनी पत्नी और बच्चों के साथ रहता है। लोअर-मिडिल क्लास से ताल्लुक रखता है। उसके दो बड़े भाई दिल्ली में ही अलग-अलग जगहों पर रहते हैं, एक इकलौती बहन है जो शादी के बाद अपने पति के साथ हापुड़ में रहती है। इन चारों की माँ मेरे किस्से की नायिका है। बुढ़िया प्रागैतिहासिक हो चुकी थी। शरीर की शक्ति लगभग चुक गई थी और चूँकि उसके तीनों बेटे उसके हाथों से निकलकर अपनी पत्नियों के हाथों में खेल रहे थे, अतः वह बेचारी मेरठ में अपने भाई के साथ रहकर दिन काट रही थी। एक दिन होनी ऐसी हुई कि उसके भाई की मृत्यु हो गई। भाई के पुत्र ने सराय रोहिल्ला में बशेशरनाथ को तार दे दिया कि वे आएँ और अपनी चल सम्पत्ति माँ को ले जाएँ जो वहाँ भाई के ग़म में अचल हो रही है। (हाँ, तुम्हें यह बता दूँ कि मेरठ वाले की डायरी में सराय रोहिल्ला वाले का ही पता था)।'

बेताल ने साँस लेकर फिर क़िस्सा शुरू किया, 'बशेशरनाथ को जब तार मिला, उस समय

जेठानी इसलिए पछाड़ खाकर गिरीं कि उन्हें यह अनुमान नहीं था कि बुढ़िया के मरने पर इतना अधिक पैसा खर्च करना पड़ेगा, खर्चे का हिसाब लगाते ही उन्हें गश आ गया। श्री व श्रीमती नाथ इसलिए आँसू बहा रहे थे कि दो दिन बुढ़िया को और अपने पास रखते तो जो यश जेठ-जेठानी को मिल रहा था, वह उन्हें मिलता। और जेठ? वे इसलिए बिलख रहे थे कि फैशनपरस्त होते हुए भी माँ के मरने पर उन्हें सिर मुंडाना पड़ा।

वह पत्नी विहीन हो, सुखी जीवन व्यतीत कर रहा था। (पत्नी मायके गई हुई थी।) वह माँ का सबसे छोटा व लाड़ला बेटा था, शायद इसीलिए उसके दिल में माँ के लिए कहीं थोड़ी-सी 'वैकेन्सी' थी। वह तुरंत मेरठ गया और माँ को सराय रोहिल्ला ले आया। माँ, भाई के ग़म व बुढ़ापे की वजह से क्षीण हो गई थी। यहाँ दो दिन तो आराम से कटे किंतु तीसरे दिन जैसे ही श्रीमती बशेशरनाथ बच्चों के साथ घर लौटीं तो लौटते ही उसकी छाती पर काला भुजंग लोट गया। जब उसने देखा कि उसके बिछौने पर सास जी लेटी हुई हैं और पतिदेव टेम्परेचर ले रहे हैं। कठिनाई से श्रीमती नाथ ने अपना टेम्परेचर डाउन किया। फ़ारमल नमस्कार-चमत्कार के बाद पहला काम तो यह किया कि सास को अपने बिछौने से हटाकर पीछे कोठरी में उसकी 63 उमर से मेल खाती हुई चारपाई-सी वस्तु पर स्थानांतरित कर दिया और फिर बशेशरनाथ पर चढ़ बैठी, 'क्यूँ जी, एक तुम्हीं लाड़ले शरवन कुमार थे जो डोली में बिठाकर बुढ़िया को सराय रोहिल्ला तीरथ पर लाकर पुन कमा रहे हो? बाक़ी दोनों सौतेले थे जो मेरी जान को यही आफत लानी थी. . .' आदि. . .आदि. . .। उधर बुढ़िया बुखार में डूबी हुई थी। ये डॉयलाग सुनकर उसका दिल भी डूबने लगा, लेकिन तभी उसे तिनके का सहारा मिला जब बशेशरनाथ ने क्रोध दबाते हुए कूट शैली में कहा, भागवान, देखो अब यह उनकी विदा-बेला है, जाने कब चली जाएँ, मैं तो उन्हें जान-बूझकर यहाँ लाया हूँ ताकि लोग देखें और कहें कि अंतिम बखत में बशेशर की घरवाली ही काम आई; सबसे छोटी बहू थी लेकिन सास का खयाल उसी को सबसे ज्यादा था, फिर माँ कौन-सा तंग करेगी, पड़ी रहेगी कोठरी में, खा-पी ज्यादा सकती नहीं हैं, राशनकार्ड में उनका नाम बढ़वा लेंगे और राशन ब्लैक कर देंगे, क्यों?' बुढ़िया ने बेटे के कथन में से अपने मतलब का सार गह लिया और बाकी थोथा समझकर उड़ा दिया और उधर श्रीमती बशेशरनाथ ने बहुत अरसे बाद पति को 'समझदार' विशेषण से विभूषित किया। बहन-भाइयों तक ख़बर पहुँची कि माद्द बीमार है और सराय रोहिल्ला में ही है, सो अगले इतवार नाश्ते के समय बड़े और भोजन के समय तक मंझले भाई सपरिवार सराय रोहिल्ला पहुँच गए। माँ का शारीरिक संस्करण कितना संक्षिप्त हो गया था, इस बात की बृहत् रूप में चर्चा करने लगे। बच्चों के लिए दादी माँ एक अजीब वस्तु थी, वे उसे छू-छूकर देख रहे थे कि कहाँ-कहाँ से बोलती है। हापुड़ से एक शाम बहन भी पति के साथ खाली हाथ आई और दो दिन बाद थैले भरकर ले गई। विक्रमार्क थक गया था, उसने कंधा बदला, बेताल फिर चालू हो गया, 'दिनों के साथ-साथ माँ का शरीर भी गलने लगा। नौबत यहाँ तक पहुँच गई कि माँ का शौचालय तक पहुँचना भी मुहाल

हो गया जिससे श्रीमती बशेशरनाथ का बुरा हाल हुआ। परिवार-नियोजन वालों के सौजन्य से बच्चों को धोने-पोंछने से किसी तरह छुटकारा मिला था, लेकिन अब बुढ़िया ने भूली दासतां बहुत जोर-शोर से याद दिला दी। कुछ दिन तो दवा-दारू (दारू बशेशरनाथ पीता था) की गई पर फिर श्री व श्रीमती नाथ को बोध हुआ कि यदि दवाएँ चलती रहीं और असली मिलती रहीं तो बुढ़िया भी न जाने कब तक चलती रहे, अतः दवाएँ बंद करके दुआएँ चालू कर दीं कि छुटकारा जल्दी मिले, किंतु साइयाँ उसे रखने के पक्ष में था। श्रीमती बशेशरनाथ रोज सुबह एक नई आशा से उठती किंतु बुढ़िया को पलकें झपकाते देख निराश हो जाती। बुढ़िया खाती कम थी, किंतु बनाती अधिक थी। घर के सभी पुराने कपड़े उसके उत्पादन को ठिकाने पहुँचाने में खत्म हो चुके थे। श्रीमती बशेशरनाथ ने कई मन्नतें मानीं, टोटके किए, व्रत भी रखे लेकिन हर वार खाली गया। हारकर उसने एक ज्योतिषी को बुलाया और उससे बुढ़िया की मुक्ति-सूचना चाही। वह कच्चा था, उसने जाँच-वाँच कर बताया, 'चिंता की बात नहीं है, माँ जी शीघ्र ही स्वस्थ हो जाएँगी।' उसी शाम ऑफिस से लौटते ही बशेशरनाथ को शाही फरमान मिला कि आज रात तक बुढ़िया जेठ जी के घर पहुँच जानी चाहिए। और उसी रात बुढ़िया का ट्रांसफर उसके बड़े पुत्र की कोठी सिविल लाइन्स में हो गया। 'दो ही दिन बाद बशेशरनाथ को सूचना मिली कि माँ जी की मृत्यु हो गई। सारा परिवार सिविल लाइन्स एकत्रित हुआ। पंडित बुलाया गया, हवन किया गया, विमान आया जिसे तीनों भाइयों ने मिलकर सजाया, उसमें फल लटकाए, गुब्बारे बांधे। बढ़िया कफ़न मंगाया गया, बुढ़िया के लिए कपड़े, जूते, ट्रंक, बर्तन जो उसे जीते जी नसीब न थे, लाए गए और क़रीने से सजा दिए गए। बड़े-बूढ़े और उनसे ज्यादा मोहल्ले की औरतें जो कहतीं, मंगाया गया। बैंड-बाजे बुलावाए गए और बहुत धूम-धाम से शव यात्रा निगमबोध घाट की ओर रवाना हुई। घंटे बजाए गए, गुलाल, फूल और दो पैसे के सिक्के लुटाए गए। आगे-आगे जल छिड़कते हुए सिर घुटाए हुए नंगे पैर धोती-बनियान पहनकर जेठ जी शोक-विह्वल, दहाड़े मारते हुए चल रहे थे। श्मशान घाट पर जब बुढ़िया को जलाने के लिए पहली लपट जेठ जी ने लगाई, जेठानी पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। श्री व श्रीमती बशेशरनाथ पहले ही से आँसुओं से तर थे और जेठ जी अभी भी बिलख रहे थे।'

थोड़ी देर मौन रहने के बाद बेताल ने फिर मुँह खोला, 'अच्छा विक्रमार्क, यह किस्सा समझो कि यहीं ख़तम हुआ, अब इससे संबंधित मेरे प्रश्नों के उत्तर जान-बूझकर

नहीं दोगे तो तुम्हारा सिर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। प्रश्न है कि जब श्रीमती व श्री बशेशरनाथ बुढ़िया की मृत्यु ही चाहते थे तो भी उनके आँसू क्यों निकल रहे थे? दूसरे जेठ जी क्यों बिलख रहे थे और जेठानी पछाड़ खाकर क्यों गिरी? विक्रमार्क ने कुछ देर सिर खुजलाने के बाद उत्तर दिए, 'जेठानी इसलिए पछाड़ खाकर गिरीं कि उन्हें यह अनुमान नहीं था कि बुढ़िया के मरने पर इतना अधिक पैसा खर्च करना पड़ेगा, खर्चे का हिसाब लगाते ही उन्हें गश आ गया। श्री व श्रीमती नाथ इसलिए आँसू बहा रहे थे कि दो दिन बुढ़िया को और अपने पास रखते तो जो यश जेठ-जेठानी को मिल रहा था, वह उन्हें मिलता। और जेठ? वे इसलिए बिलख रहे थे कि फैशनपरस्त होते हुए भी माँ के मरने पर उन्हें सिर मुंडाना पड़ा।'

यों विक्रमार्क का मौन भंग होते ही बेताल का शव छूटकर वापिस उसी पेड़ पर लटक गया।

❑❑❑

चिड़िया उड़ गयी फुर्र

● डॉ० शंकर 'क्षेम'

इन्दिरा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हवाई अड्डे से मास्को पर ग्यारह घंटे रुकने के बाद नार्वे के ओस्लो हवाई अड्डे तक पहुँचने की लम्बी हवाई यात्रा में बिजॉय दासगुप्ता का मधु सोलकर से परिचय एक संयोग ही कहा जा सकता है। नार्वे की ही दो अलग-अलग कम्पनियों में उन दोनों को नौकरी मिली थी। दोनों के ही कार्यस्थल नार्वे के शहर ओस्लो में ही थे। ओस्लो नार्वे का एक सुन्दर शहर है। मास्को हवाई अड्डे पर ग्यारह घंटे का उनका रुकना सच में एक उबाऊ मामला था। ऊब के मनोविज्ञान को सहज बनाने के लिए कोई न कोई युक्ति तलाशनी पड़ती है। बिजॉय और मधु के पास कई बिन्दु थे युक्ति तलाशने के। एक तो दोनों युवा, दूसरे दोनो ही पहली बार विदेश जा रहे थे, तीसरा सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु था कि दोनों ही एक नए वातावरण में जीवन-यापन करने जा रहे थे। दोनों के भारत में प्रदेश अलग-अलग। मधु सोलकर महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के सीमावर्ती इलाके की मूलत: रहने वाली और परिवार रह रहा था-इन्दौर में। बिजॉय दास गुप्ता का परिवार मूल रूप से चौबीस परगना पश्चिमी बंगाल का रहने वाला और रह रहा था बनारस में। बिजॉय इलैक्ट्रानिक्स इंजीनियर और मधु एम.बी.बी.एस, एम.डी.। दोनों ने समय गुजारने के लिए परस्पर परिचय किया। अन्य यात्री तो मास्को हवाई अड्डे पर अण्डाकार स्वरूप के मॉल और बार में घूम कर वक्त काट रहे थे। मौसम कहने को ठण्डा था परन्तु केन्द्रीय वातानुकूलित वातावरण में पता नही चल रहा था। ये दोनो परस्पर वार्तालाप में व्यस्त थे। यही परिचय ओस्लो पहुँचकर और उसके बाद उनके जीवन-साथी बनने का कारक बन गया।

बच्चो को क्रचों के हवाले करना कामकाजी महिलाओं की विवशता तो है परन्तु बच्चों के साथ इससे न्याय होने में बाधा आती है। यह माँ-बाप की सुविधा तो है परन्तु बच्चों से उनका बचपन छीनने का प्रयास भी है। माँ होकर भी जो अपने बच्चे को लाड़-प्यार नहीं दे सकती वह पैसा खर्च करके उसे दिलाया नहीं जा सकता।

पहली बार भारत आने पर दोनों के परिवार वालों ने उनका विवाह कर दिया और डॉ० मधु सोलकर से डॉ० श्रीमती मधु दासगुप्ता बनना डॉ० मधु को बहुत ही अच्छा लगा। विवाह के सही चौदह महीने बाद उनके यहाँ एक पुत्री का जन्म हुआ और उन्होंने उसका नाम लिखा अंजलिका। मधु और बिजॉय की माँ ने बारी-बारी से ओस्लो में रहकर अंजलिका को एक साल का कर दिया। अब अंजलिका कुछ-कुछ समझने लगी थी। मधु की मराठी और बिजॉय की बंगला के बीच हिन्दी एक सेतु का कार्य कर रही थी। वह तीनो ही भाषाओं से कुछ न कुछ ले रही थी। बिजॉय और मधु में अंजलिका के भविष्य को लेकर जब-जब चर्चा होती तो मधु तो उसके डॉक्टर बनने का सपना देखती और बिजॉय उसे एक सॉफ्टवेयर इंजीनियर बनाने की बात करता। अंजलिका अपने खिलौनों में से एक को डॉक्टर और एक को इंजीनियर बनाकर बीच का रास्ता तलाश करके उन्हें देती। अंजलिका ओस्लो के माहौल के अनुसार क्रच, प्ले स्कूल भेजने के योग्य हो गयी। उसे उन दोनों ने पहले क्रच में और बाद में प्ले स्कूल में डाल दिया।

बच्चो को क्रचों के हवाले करना कामकाजी महिलाओं की विवशता तो है परन्तु बच्चों के साथ इससे न्याय होने में बाधा आती है। यह माँ-बाप की सुविधा तो है परन्तु बच्चों से उनका बचपन छीनने का प्रयास भी है। माँ होकर भी जो अपने बच्चे को लाड़-प्यार नहीं दे सकती वह पैसा खर्च करके उसे दिलाया नहीं जा सकता। और फिर, माँ बच्चे को लाड़-प्यार ही तो नहीं देती, वह उसे संस्कार भी तो देती है। बच्चा क्रच में संस्कार कहाँ से ग्रहण करेगा? दादी-दादा, नानी-नाना का वहाँ प्रचलन नहीं है। माँ-बाप का वहाँ राग-अनुराग नहीं है। अंजलिका का इसे घर के बाहर का कदम माना जा सकता है। वह बहुराष्ट्रीयता के बच्चों के समूह में बड़ी होने लगी। कुछ दिनों बाद वह प्ले स्कूल जाने लगी। स्कूल की गाड़ी का उसे लेने आना और घर छोड़ जाना अब उसे भी भाने लगा। मधु-बिजॉय को भी सुविधाजनक लगने लगा। केवल शनिवार और रविवार को ही अंजलिका को घर रहना पड़ता। मधु को तो सप्ताह में दो दिन भी घर रुकने को नहीं मिलता। व्यस्त डॉक्टर जो ठहरी। इतने मोटे वेतन पर बुलाये गये डॉक्टर को मालिक खाली छोड़े भी कैसे? और 'टाइम' देकर 'वीक एण्ड' को भी खरीद लिया जाता और छिन जाता अंजलिका से उसकी माँ का प्यार। बिजॉय की कम्पनी तो 'वर्क एट होम' देकर उसे घर रुकने का अतिरिक्त मौका भी दे देती और वह अपनी बेटी की यथाशक्ति देखभाल भी करता। मधु पर तो कभी-कभी वह झुँझला भी जाता परन्तु अंजलिका की देखभाल में कोई कमी न करता। पिता कुछ भी करे पर वह माँ के स्थान की पूर्ति नहीं कर सकता। अंजलिका मधु के अस्पताल से वापस आने तक परेशान रहती।

पश्चिमी देशों में 'डे बोर्डिंग,', 'डे एण्ड नाइट बोर्डिंग' और बोर्डिंग का रिवाज बहुत पुराना है। वहाँ माँओं को बच्चे पालने की फुर्सत नहीं है। हमारे यहाँ से उधार जाने

वाली भी उन जैसा दिखने की होड़ में उसी माहौल में ढलने लगती है। मधु और बिजॉय को भी अनुभव हुआ कि अंजलिका को बोर्डिंग में छोड़ने का वक्त आ गया है। दोनों ने अपनी-अपनी कम्पनियों से एक दिन की छुट्टी ली और बेटी को बोर्डिंग हाउस छोड़ने का मन बनाकर स्कूलों में संपर्क किया। बोर्डिंग हाउसों में सुविधाओं की कई श्रेणियाँ हैं। जेब के हिसाब से ही श्रेणी तय की जाती है। मधु और बिजॉय को अच्छा पैकेज दोनों की इकलौती जिम्मेदारी। सोच-समझकर अंजलिका के लिए बोर्डिंग हाउस की व्यवस्था कर दी। वहाँ के नियामानुसार शुक्रवार को दो घंटे के लिए माता-पिता बच्चे से मिलने आ सकते हैं। रविवार को प्रातः आठ बजे से रात्रि के आठ बजे तक वे अपने बच्चे को अपने घर भी ले जा सकते हैं। अंजलिका अब तक स्वयं को माता-पिता से अलग रखने की आदी हो चुकी थी। अंजलिका वहाँ खुश, उसके माता-पिता अपने आप में खुश।

पैसे से सुविधायें खरीदी जा सकती हैं परन्तु ममत्व और मातृत्व नहीं। अंजलिका खरीदी हुई सुविधाओं में बड़ी होने लगी। धीरे-धीरे उसका अपने माता-पिता से लगाव भी कम होने लगा। मधु और बिजॉय पहले तो कभी-कभी उसे रविवार को घर ले आते थे। अब तो महीने में एक बार वे बोर्डिंग और मैस की फीस जमा करने ही आ पाते हैं। ओस्लो शहर का वातावरण भी अन्य पश्चिमी विकसित देशों के शहरों की तरह ही है। सामाजिक खुलापन वहाँ भी प्रचलन में है। बोर्डिंग से अंजलिका की शिकायते आने लगी। मधु अपने स्तर पर उनका निस्तारण करते-करते दुःखी हो गयी। उसने अंजलिका को समझाने का भी काफी प्रयास किया। परन्तु, असफलता ही हाथ लगी। पति-पत्नी दोनों ने मिलकर काफी विचार-विमर्श किया और निर्णय लिया कि बिटिया को भारत घुमाकर लाया जाए। दादी-दादा, नानी-नाना, मामी-मामा आदि से मिलकर उसका मन जरूर बदलेगा। शायद इसे वहाँ का माहौल कुछ अच्छा लगे। कुछ वर्षों बाद हमें भी तो भारत लौटना है। वे योजना के अनुसार दिसम्बर के महीने में भारत आ गए। नई दिल्ली, मुम्बई, बंगलुरु, चेन्नई, तिरुवनन्तपुरम् जैसे स्थानों पर घुमाने के बाद वे अंजलिका को लेकर बनारस उसके दादा-दादी से मिलाने लाये और बाद में इन्दौर में उसके नानी-नाना के पास पहुँच गये। महाकालेश्वर और औंकारेश्वर भी उसे घुमाया। अन्त में उसे इन्दौर छोड़कर नार्वे वापस जाने लगे और अंजलिका से कहा -''बेटी तुम्हारे सामने शहरों के विकल्प हैं। जहाँ तुम्हें अच्छा लगी वही हम अपना फ्लैट खरीद लेंगे हम जल्दी हो ओस्लो छोड़कर भारत वापस आने के लिए जा रहे हैं।''

वे लौट रहे थे। पुनः मास्को में ग्यारह घंटे रुककर अगली उड़ान की प्रतीक्षा कर रहे थे। बिजॉय ने मधु से कहा - ''देखो, यह वही स्थान है जहाँ हमारी पहली मित्रता हुई थी परन्तु मनोविज्ञान में कितना अन्तर है? तब वे ग्यारह घंटे पता भी नहीं चले थे और अब वे ही ग्यारह घंटे काटे से नहीं कट रहे।'' मधु ने मौका मिलते ही अंजलिका की

शिकायतों की जानकारी बिजॉय को दी तो बिजॉय भौचक्का रह गया। अनेक प्रश्न मानस पटल पर पहाड़ो पर दौड़ते बादलों की उतर कर आ रहे थे। वे दोनों उनकी धुंध में ढके से अनुभव कर रहे थे। उत्तरों की खोज में वे दोनों ही जुटे थे। कोई उत्तर हाथ नहीं आ रहा था। अंजलिका को इन्दौर में छोड़कर आना, कोई समाधान नहीं था समस्या का। जिन लोगो के बीच जो लड़की कभी नहीं रही, कैसे रह पायेगी? उसका बुझा-बुझा सा चेहरा उनके मानसपटल पर बार-बार उभर कर आ रहा था। हम अपनी संस्कृति की मूलधारा से जब-जब थोड़ा-बहुत हटने का प्रयास करते हैं तो हमारे संस्कारों के साथ दुर्घटना हो ही जाती है। ऐसी ही दुर्घटना की संभावना बिजॉय और मधु को लग रही थी। वे ओस्लो पहुँचकर अपने-अपने नियोजकों से भारत वापसी की बात करके जैसे ही घर लौटे, अचानक इन्दौर से फोन ने उनकी हालत बिगाड़ दी। मधु के पापा का फोन था कि अंजलिका भी नार्वे वापस आ गयी है। अंजलिका घर तो पहुँची नहीं थी। वे उसके बोर्डिंग पहुँचे। वहाँ से सूचना मिली कि हेनरी के साथ रहने के लिए बोर्डिंग छोड़कर चली गयी है। वे तलाशते-तलाशते हेनरी तक पहुँचे तो उन्हें वहाँ अंजलिका भी मिली। उन्होंने उसे बहुत समझाया, बहलाया, फुसलाया, लेकिन वह टस से मस नहीं हुई। वह किसी भी कीमत पर उनके साथ वापस आने को तैयार नहीं हुई। जबरदस्ती वे कर नहीं सकते थे क्योंकि वहाँ बाल एवं किशोर उत्पीड़न एक संगीन अपराध है। अंजलिका ने उनसे कुछ प्रश्न ऐसे कर डाले जिनके उत्तर उन दोनों पास थे ही नहीं। उसके प्रश्न थे - वे किस अंजलिका को वापस लेने आये हैं? उनकी अंजलिका थी कब? वह तो पहले क्रच की थी, फिर प्ले स्कूल की और बाद में बोर्डिंग हाउस की। आपने तो बच्चों को रिमोट कन्ट्रोल वाला खिलौना समझ रखा है। रिमोट से चलाना चाहते हैं आप हमें। आपके बच्चों और खिलौनो में फर्क़ करना आना चाहिये। आपसे जो प्यार मुझे चाहिये था वह आपने कभी दिया? आप जिस अंजलिका को लेने आये हैं वह हेनरी की है, आपकी थी ही कब? आप तो दुहरी भारतीय संस्कृति को जी रहे हैं। 'चलो-चले पश्चिम की ओर' की दौड़ का एक हिस्सा मात्र हैं आप। अपना कहने के लिए आपके पास बचा ही क्या है? माता-पिता? भाई-बहिन? गांव-शहर? नहीं, कुछ भी तो नहीं । मुझे भारत की संस्कृति में ढालना चाहते हैं आप। जिससे कि आप यहाँ स्वतन्त्र रूप से यहाँ की संस्कृति में रच-बस सकें। नहीं जाना, आपके साथ मुझे।

और, अंजलिका नहीं लौटी उनके साथ। बिजॉय और मधु रह गये हाथ मलते। उनकी चिड़िया उड़ गयी फुर्र।

❑❑❑

जहाँ खामोशी बोलती है..... मणिकर्ण

● कविता विकास

यास और पार्वती नदी के संगम पर बसा यह एक महत्त्व पूर्ण नगर है, जिसके बारे में पर्यटकों को कम ही पता है। भूंतर पार्वती घाटी का प्रवेश-द्वार है। रास्ते में कसोल घाटी भी आती है जहाँ मलाना संस्कृति विद्यमान है। चारों ओर चीड़, अनार, सेब आदि फलों के पेड़, तेजी से उठती पहाड़ियाँ, प्रदूषणरहित जलवायु तथा स्वच्छ जलधारा इस देवनगरी को मनोरम बनाते हैं।

यादों के दस्तगाह में लम्हों के मोती हैं। हर लम्हा कुछ सीख देता है। यहाँ जिस अविस्मरणीय लम्हे की बात हम करेंगे उसे याद कर आज भी मन सुकून से भर जाता है और रोमांचित हो जाता है। यूँ तो सूर्यास्त उगते सूरज का संदेशा होता है, पर यह सूर्यास्त कुछ ऐसा था जिसे देख कर लगता था कि पृथ्वी अपना भ्रमण रोक दे और मैं बर्फीली चोटियों के पीछे छुपते सूरज और पहाड़ों से टकरा कर बिखरने वाले सातों रंगों को आँखों में बसा लूँ। क्या विलक्षण नजारा था! घने जंगलों से आच्छादित घाटियाँ, जिनके पीछे सफेद गगनचुम्बी चोटियाँ जिन पर मेष की आकृति वाला मेघ किलोलें करता था और नीचे बहती सफेद धाराओं में निहारता आकाश। मानो कोई अलग ही दुनिया हो। ओधिसा का झारसुगुडा प्रान्त अपनी चिलचिलाती गर्मी के कारण विख्यात है.. वर्षों से हमारा वहीं बसेरा है। धारा की आग से बचने के लिए हमने पर्वतीय स्थल में कुछ दिन बिताने का निर्णय लिया और फिर शुरू हुआ इन्टरनेट पर होटलों की तलाश और कम समय में आराम से वहाँ पहुँचने का जरिया। सभी कुछ फटाफट हो गया। बच्चों ने यह जिम्मेवारी ले ली थी। शिमला ,कुल्लू और मनाली के साथ-साथ रोहतांग की यात्रा भी सुखद और यादगार रही। ज्यादातर यात्री इन्हें देख कर लौट जाते हैं। पर हमने मणिकर्ण जाने का फैसला किया। यह स्थान कुल्लू से 45 किलोमीटर दूर है। कुल्लू-मनाली की यात्रा में व्यास नदी ने रास्ते भर हमारा साथ दिया। जब मन हुआ गाड़ी रुकवा कर रिवर राफ्टिंग का मजा लिया और जब मन हुआ वहाँ की नैसर्गिक सुंदरता को कैमरे में समेट लिया।

मणिकर्ण में पार्वती नदी हमारी हमसफर बन गयी। व्यास और पार्वती नदी के संगम पर बसा यह

एक महत्त्व पूर्ण नगर है, जिसके बारे में पर्यटकों को कम ही पता है। भूंतर पार्वती घाटी का प्रवेश-द्वार है। रास्ते में कसोल घाटी भी आती है जहाँ मलाना संस्कृति विद्यमान है। चारों ओर चीड़, अनार, सेब आदि फलों के पेड़ ,तेजी से उठती पहाड़ियाँ, प्रदूषणरहित जलवायु तथा स्वच्छ जलधारा इस देवनगरी को मनोरम बनाते हैं। कसोल होते हुए दोपहर में हम मणिकर्ण पहुँचे जो कसोल से 4 किमी. की दूरी पर बसा हुआ है। पार्वती नदी की दाहिनी ओर बसे मणिकर्ण पहुँचने के लिए दो पुल पार करने होते हैं। यहाँ इसकी धारा बेहद तीव्र हो जाती है। कौन जाने यह उसका रोष रूप है या प्रेम रूप। कहाँ से इतनी खूबसूरती समेटी हुई है यह धरती? आकाशलोक में केवल एक स्वर्ग है पर धरती की बंद परतों को झाँकें तो अनेक स्वर्ग मिलेंगे। तन्हाई को किसने देखा है? यह तो महसूसने की चीज है लेकिन मणिकर्ण आ कर देखें, सशरीर तन्हाई दिखाई देगी।

पुरानी कहावत के अनुसार एक दिन पार्वती जी इस स्थान पर जलक्रीड़ा कर रही थीं। तभी उनके कान की मणि गिर गयी जो पृथ्वी पर न टिक कर पाताललोक में मणियों के स्वामी शेषनाग के पास पहुँची। शेषनाग ने उसे अपने पास रख लिया। शिवजी के गणों ने सब ओर ढूँढा पर मणि नहीं मिली। क्रोधवश शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला जिससे प्रलय आने लगा । तब शेषनाग ने जोर से फुंकारा और पार्वती की मणि को जल के बहाव के साथ पृथ्वी की ओर फेंका। इसलिए इस स्थान का नाम मणिकर्ण पड़ा। जल, विष्णु और शिव को अग्नि का रूप माना गया है ।

नामकरण के पीछे चाहे जो भी तथ्य रहा हो ,यह तो सर्वविदित है कि ईश्वर में आस्था रखने वाले को प्रकृति की इस अनमोल देन में ईश्वर का साक्षात् दर्शन होता है- द्रुमों की कतार को चीरती किरणों में, बर्फीली पहाड़ियों के पीछे डूबते सूरज में, पार्वती नदी की उफनती धाराओं में या फिर घनघोर वन में तपस्या में लीन मुनियों में। ऐसा सम्मोहन केवल भगवान ही पैदा कर सकते हैं। मणिकर्ण में गर्म पानी के चश्मे जगह-जगह निकलते हैं जो चट्टानों के नीचे से निकलते हैं और भारी दबाव के कारण ऊपर की और आते हैं। प्रवाह स्थल पर कठोर पपड़ी की परत मिलती है जो कार्बोनेट की उपस्थिति का प्रमाण है। यहाँ पानी का तापमान 88 डिग्री से 94 डिग्री सेल्सियस तक है। इनमे पोटली में बाँध कर चावल और दाल रख कर लोग पकाते हैं और प्रसाद के रूप में ग्रहण भी करते हैं।

मणिकर्ण में नौ शिवमंदिर पहले भी थे और अब भी हैं। यहीं पर करीब 11000 वर्ष पुराना शिव मंदिर है। प्रवेश द्वार के सामने शिवलिंग स्थापित है। पृष्ठभूमि में शिव-पार्वती की मूर्तियाँ हैं। मंदिर के नीचे एक बंद कमरा है जिसमे गर्म पानी के चश्मे हैं और नहाने की सुविधा है। इस उबलते जल को शिव का रूद्र रूप माना गया है। दन्तकथा के अनुसार इसी स्थान पर शेष नाग द्वारा पाताल लोक से उछाली गयी कर्णमणि प्रकट हुई थी। मणिकर्ण के मंदिरों में राम मंदिर का विशेष उल्लेख है। यह शिखर शैली का मंदिर है जिसके ऊपर स्लेट की छत है। इसे राजा जगत सिंह ने 1653 ईस्वी में बनवाया था।

मंदिर परिसर के साथ एक खुला तालाब है जिसमे केवल पुरुष स्नान कर सकते हैं। हनुमान मंदिर, नयना भगवती मंदिर, कृष्ण मंदिर और रघुनाथ मंदिर भी आस्था के केंद्र हैं। रघुनाथ मंदिर में कमलासन पर विष्णु जी विराजमान हैं। मंदिर के उत्तर-पश्चिम छोर पर एक ठण्डे पानी की वाबली है। पूरे मणिकर्ण में सिर्फ यहीं पर ठंडी जल वाबली मिलती है, बाकी सभी जगहों में गर्म जल के चश्मे हैं। पार्वती की ठंडी धाराओं के नीचे या बगल में अगर गर्म चश्मे का मुँह मिलता है तो सारा वातावरण इस मेल से धुँआ-धुँआ हो जाता है। एक से डेढ़ दिन इन मंदिरों को घूमने के लिए काफी है।

पार्वती नदी के ऊपर एक गुरुद्वारा भी है जिसे संत श्री नारायण हरी ने कैमलपुर से आकर बनवाया था। जरा सोचिये ऐसी वीरान जगह में आज से सत्तर-बहत्तर साल पहले किसी भवन का निर्माण कितना दुष्कर रहा होगा। इस गुरुद्वारा में करीबन 4000 लोगों के आवास और नि:शुल्क लंगर की सुविधा है। सुबह-शाम होने वाले भजन-ध्यान का अलग आकर्षण है। गुरुद्वारे के अन्दर भी गर्म कुंड में नहाने के लिए स्त्री-पुरुष की अलग -अलग व्यवस्था है। गुरुद्वारे के प्राचीर से बाहर का नजारा देखते हुए लगता था मानो धरती का जर्रा - जर्रा चूमने के लिए वृक्षदल बेताब हैं और उनकी नुगियाँ आकाश को चादर सा थामे हुए हैं। इन मंदिरों के दर्शन के बाद आगे और भी दर्शनीय स्थल हैं जैसे ब्रह्म गंगा संगम, रूपगंगा, रुद्रनाग, खीरगंगा आदि। गुरुद्वारा साहिब में हर साल फरवरी माह में समागम होता है जो सात दिन चल कर बुद्ध पूर्णिमा को समाप्त होता है। बड़ी संख्या में श्रद्धालु यहाँ आते हैं।

मणिकर्ण में तीन दिन रहने के बाद हमने वापसी की। लौटते समय बार-बार लग रहा था कि इस पावन नगरी में आने का विचार कहाँ से मन में आया था? यह देवी पार्वती की ही लीला थी जिसने अज्ञात डोर से हमें खींच लिया था। मणिकर्ण की नैसर्गिक सुन्दरता अभी भी पर्यटकों के भीड़-भाड़ से बची हुई है, शायद इसीलिए खामोशी के स्वर यहाँ बोलते हैं। कभी हवाओं में घुलती बुरांश की महमह गंध के साथ, कभी बर्फीली नदियों के कोलाहल के साथ तो कभी कोहरे से झाँकती भोर में असंख्य परिंदों के सुर के साथ।

❑❑❑

डी.-15, सेक्टर-9, पी.ओ.-कोयलानगर, कपेज-धनबाद, पिन-826005, झारखण्ड, मो.:- 09431320288

✍ निविड़ शिवापुत्र

प्रश्न यह नहीं कि...

एक हाथ में इतिहास दूसरे में भविष्य
सिर पर अधजल गगरी का दुर्वह बोझ
इस कदर साँस थामे चल रहा जीवन
जाने कब बिगड़ जाए संतुलन
कविता इतिहास हो जाए
कवि एक अर्थहीन संबोधन!

संभावनाएँ हैं, आशंकाएँ हैं मैं हूँ
मेरे होने पर हस्ताक्षर करती सृष्टि है
और यह प्रश्नाकुल समय है।

आकुल पतंगों-से टकराते हैं प्रश्न
जैसे मैं कोई जलती हुई चीज होऊँ
आलोकित अग्निपुंज परम चैतन्य कोई
जिसे दुनिया भर के सवालों का जवाब देना है

इसका भी कि जलना क्यों जरूरी है
कि जलने और जगने में क्या संबंध है
कि जागना जरूरी है या सपनाना
कि हम जिस चौराहे पर खड़े हैं
संभावनाओं का संधिस्थल है

जहाँ हर सुबह फूटते हैं कल्ले नवजीवन के
या फिर आशंकाओं का ऑक्टोपस
जहाँ से दुविधा और भय पसारते हैं पाँव

प्रश्न यह नहीं कि कैसा चल रहा है
ठीक्के है में लगा तिर्यक है प्रश्न

प्रश्न यानी तमतमायी धूप में
सकुचाती छाँव को तलाशती
छतविहीन पेशानी की सलवटें
सर्द आसमान के नीचे ठिठुरते फुटपाथ
विशालकाय होर्डिंग से झाँकती अधनंगी सुंदरी
उसे निहारते फुटपाथ के अधनंगे फरिश्ते

प्रश्न यानी एक फाहिशा उम्मीद
जो नए-नए सपनों के साथ
करती होती है नैन-मटक्का

प्रश्न यानी ठहरे हुए समय का पूछना
कब आखिर कब
फलित होगा यह रोमांस?

❑❑❑

निर्मला हाउस, न्यू पुनाईचक, पटना-800023, दूरभाष: 8002152277

✍ निविड़ शिवापुत्र

अंतिम पेड़ के अंत पर

पड़ोस में रातोंरात खड़े हुए
अपार्टमेंट को देखकर अक्सर लगता है
किसी पोंपले मुँह में डेंचर फिट कर दिया गया हो
वह जगह जहाँ सुनापन बिसूरता था
तुम्हारे जाने के बाद

बुढ़ौती के आखिरी दाँत की तरह
जबरिया उखाड़े गए तुम
अपनी हरी-भरी जड़ समेत
मान लिया गया कि जैसे
अकेला चना भड़ नहीं तोड़ता
वैसे ही अकेला पेड़
शहर की समृद्धि में धेला नहीं जोड़ता

तुम्हें हलाल होते देख अपनी नजरों के सामने
जैसे जश्न की तैयारी में
हलाल किए जाते हैं बेजुबान
एक स्वर्णिम काया से जुदा होते देखी उसकी छाया
छाया जो दफ्न है
रोतोंरात खड़े हुए इस मकबरे के नीचे
तुम्हारी अनुपस्थिति
अविरल चमकती है स्मृति के शो फेस में
जहाँ कभी न मुरझाने वाले फूल हैं
नकली दाँतों की चमक लिए
हमेशा हरी रहने वाली पत्तियाँ हैं
अपनी कृत्रिम हँसी के साथ
एक धड़कते जीवन का निष्प्राण स्मारक है
जिसे किसी बिल्डर ने
अपने दिवंगत पिता का नाम दे रखा है।

❑❑❑

निर्मला हाउस, न्यू पुनाईचक, पटना-800023, दूरभाष: 8002152277

कुछ नज्मे

✍ सतीश बेदाग

(1)

ये नजर आती है जो भी? समंदर की तरह
आगे बढ़ने को ही निकले हैं घरों से सारे
आगे बढ़ते हुए देखे हैं कितने लोग मगर?

आगे बढना है तो फिर पाँव बढ़ाने होंगे
भूलना होगा तेरे कदमों के नीचे क्या है
नौजवां चेहरे हैं या फिर बुजुर्ग सीनें हैं
अधखिली कलियाँ हैं या तितलियाँ या बच्चे हैं
अनसुनी करनी पड़ेगी तुझे पैरों के तले की हर चीख

आगे बढ़ने का यहाँ एक यही रस्ता है
आगे बढ़ना है तुझे, बोल तुझे है मंजूर?

(2)

रात दरवाजे पे बेवक्त हुई इक दस्तक
दूधिया-से धुले कपडें में इक नवाब सा था
सोच में था कि मैं मेहमान को क्या पेश करूँ
जिन्दगी दिन की बची बानगी थी, कुछ बासी सी
डाल के दे दी वही मैंने कटोरी में उसे
उसने बस उंगली से इक बूँद चखी, नाक चढ़ा दी-
इसमें तो दर्द की मिक़दार बहुत कम है अभी!
और मैं चूल्हा जलाने के लिए ढूंढ रहा था माचिस्

(3)

एक शायर से आओ मिलवाऊँ
जो कि अक्सर उदास होता है
देखकर कोई फूल हँसता हुआ

क्यूँकि ये आज देख सकता है
सूनी-सूनी उदास सी टहनी
कल नजर आएगी जो दुनिया को

सुनके खुशबू सी कोई मस्त हँसी
चंचल आँखों की बात पढते हुए
इसकी पलकों से ओस झरती है

क्यूँकि ये आज समझ सकता है
आज सा वक्त कल कहाँ होगा
आज सा वक्त रोज होगा क्या?

ये जो शायर उदास बैठा है
दो सदी पहले भी यह जिंदा था
तब इसे लोग 'कीट्स' कहते थे

(4)

जैसे गहरे सियाह अँधेरे में
हार गया था मैं ढूँढते टोहते
कोई कोना कहीं तो रौशन हो

एक छोटी सी बच्ची पास आई
मेरी ठोढ़ी उठा के घुटनों से
दूर उंगली से कुछ दिखाने लगी
मुझको कुछ भी नजर न आ पाया
और वो कहती रही- देखो, देखो।

मैं उसे तेरी ओर भेजता हूँ
तुझको शायद दिखाई दे वो सिरा
जो कि नजरों के पार है अब तक

जब कोई रास्ता नहीं होता
तब भी कोई रास्ता तो होता है

❑❑❑

श्री मुख्तसर शाहब, 3067, खेताराम स्ट्रीट, पंजाब-152026 मो.: 9501500608
ई-मेल: sbedaag@gmail.com

✍ मनोरमा विश्वाल महापात्र

शान्तिनिकेतन

दीर्घ इतने सालों का अनमनापन
छोड़ना नहीं है मुमकिन
कोमल गांधार स्वर-साधन को
मन से परे कर देने की भाँति।
वह मुझ में मूर्च्छित है सालों से
अविरत।

शान्तिनिकेतन की काव्यमयी धरती पर
नीरवता के हाथ थामे
मैंने बुलाया था रवीन्द्र संगीत को
अपने पास।
अब मामूली लगने लगे हैं वे सारे चित्र
जो उत्कीर्णित थे
शान्तिनिकेतन के फूल-पत्तों पर
देखते-देखते कैसे खो गए
उस दिन के वे मोमपुते बाटिक के चित्र।
रंग-बिरंगी किशोरियों के रवीन्द्र संगीत के कोरस!
पर न बदला है शान्तिनिकेतन
समय है बदला हुआ पर कोमल गांधार तो वही है।
पहले की भाँति, इतने सालों के बाद भी।

❑❑❑

ई-मेल: manobm48@yahoo.co.in

राष्ट्रभाषा और सामासिक संस्कृति

● रामधारी सिंह दिनकर

पश्चिम बंग-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के दशम समावर्तन-उत्सव पर रामधारी सिंह दिनकर द्वारा प्रदत्त अभिभाषण का अंश

(अवंतिका के फरवरी 1955 अंक में प्रकाशित)

कहावत प्रसिद्ध है कि बंगाल के मस्तिष्क में जो बात आज आती है, शेष भारत के मस्तिष्क में वह कल आयेगी। इस उक्ति में जो सचाई है, उसके प्रमाण बंगाल के मनीषियों ने अनेक क्षेत्रों में दिए थे, किंतु एकता के क्षेत्र में उन्होंने जो दूरदर्शिता दिखलाई, वह सबसे अधिक प्रखर थी। एकता की समस्या भारत की सबसे भारी समस्या रही है। नवीन भारत के सामने भी जो सबसे बड़ी समस्या थी, वह निर्धनता, दुर्बलता, अशिक्षा और भीरूता की नहीं, प्रत्युत हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या थी। किंतु लज्जा के साथ हमें स्वीकार करना पड़ता है कि इस समस्या का सम्यक् समाधान निकालने में हम असफल हो गए और एक रहने का कोई उपाय नहीं देखकर अपने प्यारे देश को हमें बाँट लेना पड़ा। जिस गड्ढे में देश विभाजन के कारण गिरा है, उसकी आशंका बंगीय महापुरुषों को कदाचित् उन्नीसवीं सदी में ही हो चली थी। कदाचित् इसीलिए इन महापुरुषों ने देश को बार-बार सावधान किया कि तुम्हारी एकता तुम्हारी विविधताओं में छिपी हुई है। इस एकता की अनुभूति तुम विविधताओं को तोड़कर नहीं, उनके भीतर सामंजस्य बिठाकर कर सकते हो। यह अत्यंत अर्थपूर्ण बात थी कि राजा राममोहन राय भारतीय भाषाओं में से केवल संस्कृत ही नहीं, प्रत्युत अरबी और फारसी के भी उद्भट विदवान थे। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी कि परमहंस रामकृष्ण ने हिंदुत्व के साथ इस्लाम और ईसाइयत की भी साधना की थी और जब स्वामी विवेकानंद ने यह उद्घोष किया कि हमें सभी धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता ही नहीं दिखलानी है, वरन् हृदय से उन्हें

अपना ही धर्म समझना है, तब वे भी भारतवासियों को एक ऐसी चेतावनी दे रहे थे जिसकी देश को अत्यंत आवश्यकता थी। बात यही तक नहीं रुकी। भारत की भाग्यलक्ष्मी देश के पूर्वी वातायन पर बैठकर भारत को भविष्य की राह दिखला रही थी– यहाँ तक कि भारत के प्राचीन और नवीन संस्कारों ने अपनी सारी शक्ति लगाकर जिस महाकवि को उत्पन्न किया उसके सुख से भी एकता का वही महामंत्र फूटा जिसका संकेत राममोहन राय, परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद ने दिया था।

हे मोर चित्त, पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे,

एइ भारतेर महामानवेर सागर–तीरे।

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़–चीन,

शक–हूण–दल, पाठान–मोगल एक देहे होलो लीन।

भारतीय एकता की समस्या, केवल हिन्दू–मुस्लिम एकता की ही समस्या नहीं है; वह आर्य और द्रविड़ समस्या का भी रूप ले रही है और यदि हमने असावधानी दिखलाई तो वह उन सभी जातियों की समस्या बन सकती है जिनके मिश्रण से भारतीय महाजाति की रचना हुई है। भारतीय जनता न तो शुद्धतः आर्य है, न शुद्धतः द्रविड़, न तो शुद्धतः ऑष्ट्रिक है, न शुद्धतः मंगोल, प्रत्युत वह इनके और ऐसे ही अनेक उपकरणों के योग से बनी हुई है। कई हजार वर्षों तक एक रहने पर भी हममें भेद–प्रभेद मौजूद हैं और बुद्धिमानी इस बात में है कि हम इन भेदों और प्रभेदों का दलन नहीं करके उनके बीच सामंजस्य बनाए रखें। सामंजस्य का सूत्र मौजूद है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसे ज्यादा न तानें, नहीं तो वह टूट जायेगा।

भारत की एकता अधिनायकवादी पद्धतियों अथवा जोर–जबर्दस्ती की राह से न तो बढ़ाई जा सकती है और न बचाई जा सकती है। उसके बचाए और बढ़ाए जाने के मार्ग तो वे ही हैं जिनकी ओर इंगित परमहंस रामकृष्ण ने किया है, स्वामी विवेकानंद ने किया है, राष्ट्रगुरू रवींद्र और राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने किया है अथवा जिसकी ओर इंगित आज पं० जवाहरलाल नेहरू कर रहे हैं।

भारतवर्ष में धर्म अनेक हैं, भाषाएँ अनेक हैं, जातियाँ अगणित और क्षेत्रीय भेद अपरंपार हैं इसलिए उन देशों का अनुकरण हम नहीं कर सकते जहाँ के लोग एक ही नृवंश की संतान हैं, एक ही धर्म को मानते तथा एक ही भाषा का उपयोग करते हैं। संभव

है, उन देशों में विविधताओं का दलन किया जा सके और सारी जनता एक भाषा अथवा एक संस्कृति के खूँटे से बाँधकर एक रखी जा सके, किंतु अपने देश में तो विविधताओं को दुलराए बिना गुजारा नहीं है, सभी भाषाओं को एक समान आदर दिए बिना सहारा नहीं है और सभी धर्मों को एकवत् पूज्य माने बिना कोई उपाय नहीं है। सहिष्णुता, समझौता और सबके प्रति सबका आदरयुक्त भाव, ये ही वे उपाय हैं जिनसे हमारी एकता टिक सकती है। भारते नीति, नास्त्येव, नास्त्येव गतिरन्यथा।

भारतीय एकता की राह प्रेम की राह है, मुहब्बत और समझौते की राह है, आदरपूर्वक एक-दूसरे को समझकर चलने की राह है और प्रत्येक क्षेत्र के व्यक्तित्व को अधिक-से-अधिक अक्षुण्ण रखते हुए राष्ट्र के महाव्यक्तित्व के पूजन और समाराधन की राह है। रामकृष्ण, विवेकानंद, रवींद्र और गाँधी ने हमारे भाग्य की जो रेखा खींच दी है उससे इधर या उधर जाकर हम देश की एकता को बचा नहीं सकेंगे। देश में महापुरुषों की संख्या अभी ही नगण्य हो रही है। कुछ ही वर्षों बाद, यह देश अपेक्षाकृत दुर्बल हाथों में पड़नेवाला है। इसलिए भारत के नवयुवकों से मेरी अपील है कि वे जरा सावधान हो जाएँ। 'वाद' वे चाहें जो भी चलाएँ, किंतु देश की एकता को कायम रखने की शपथ उन्हें अभी से लेनी चाहिए और यह शपथ वे रामकृष्ण, विवेकानंद, रवींद्र और गाँधी की भाषा में ही ले सकते हैं।

हिंदू-मुस्लिम समस्या के बाद, भारत के सामने जो दूसरी बड़ी समस्या खड़ी हुई है, वह देश की भाषा-विषयक समस्या है और देश की एकता से उसका अत्यंत गहरा संबंध है। अजब संयोग की बात कि जैसे उन्नीसवीं सदी के बंगोत्पन्न भारतीय नेताओं ने देश को धार्मिक एवं जातीय एकता के विषय में सावधान किया, उसी प्रकार यह आवाज भी पहले-पहल बंगाल से ही उठी कि भारतीय राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि के लिए अंगरेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को प्रतिष्ठित करना नितांत आवश्यक है और यह भाषा एकमात्र हिंदी ही हो सकती है। उस समय, हिंदी प्रांतों में यह अनुभूति नहीं जगी थी। भारतीय रिनासाँ या सांस्कृतिक जागरण का नेता बंगाल था, राष्ट्रीयता के अंकुर बंगाल में फूट रहे थे, अतएव यह बात भी सबसे पहले बंगालियों की ही समझ में आई कि अंगरेजी को अपदस्थ करना है तो यह कार्य केवल हिंदी के द्वारा संपन्न किया जा सकता है। देश में हिन्दी का आंदोलन कैसे-कैसे बढ़ा, यह कथा काफी मनोरंजक है और उसकी मनोरंजकता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव उन महापुरुषों ने किया जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं होकर बंगला, गुजराती, मराठी या कोई और

भाषा थी। गुजराती होते हुए भी महर्षि दयानंद ने अपना 'सत्यार्थ-प्रकाश'-नामक युगप्रवर्तक ग्रंथ हिंदी में लिखा और उससे भी पूर्व, सन् 1829 ई० में राजा राममोहन राय की संरक्षकता में 'बंगाल हेराल्ड'-नामक जो पत्र निकला था, उसमें संवाद अंगरेजी, बंगला और फारसी के अतिरिक्त नागरी में भी छपते थे। आज देश में कहीं-कहीं से यह सुझाव भी आ रहा है कि यदि अनेक लिपियों के स्थान में हम एक ही नागरी लिपि स्वीकार कर लें तब भी देश की भाषागत कठिनाइयाँ बहुत-कुछ दूर हो सकती हैं। किंतु यह प्रयोग भी सबसे पहले बंगाल के ही एक दूरदर्शी सपूत श्री शारदाचरण मित्र ने किया था जिनके अस्तंगत 'देवनागर' पत्र को हमलोगों ने फिर से जीवित किया है और सद्यः उसे द्वैमासिक रूप में संसदीय हिंदी-परिषद् की ओर से दिल्ली से निकाल रहे हैं।

सन् 1874 ई० में श्री केशवचंद्र सेन ने अपने 'सुलभ समाचार' नामक पत्र में 'भारतवासियों में एकता लाने के उपाय'-नामक विषय पर एक निबंध प्रकाशित किया था जिसमें उन्होंने कहा था कि 'यदि एक भाषा हुए बिना भारत की एकता संभव नहीं, तो क्या उपाय है। उपाय यही है कि सारे भारत में एक भाषा का व्यवहार हो। अभी भारत में चालू जितनी भाषाएँ हैं उनमें से हिंदी सर्वत्र प्रचलित है। इस हिंदी को ही अगर भारत की एक भाषा बनायी जाए तो यह काम शीघ्र और अनायास संपन्न हो।'

हिंदी के एक अन्यतम हितैषी श्री भूदेव मुखोपाध्याय थे। अपने 'सामाजिक प्रबंध 'नामक बंगला-ग्रंथ में उन्होंने लिखा था कि 'भारत के अधिकांश लोग हिंदी में बातचीत कर सकते हैं अतएव भारतीय सभा-समितियों में अंग्रेजी का व्यवहार नहीं करके हिंदी में ही बातचीत करना ठीक है।' भूदेव बाबू ने बिहार की सरकारी कचहरियों में हिंदी को स्थान दिलाने के काम में बहुत बड़ा योगदान दिया था। उन्होंने हिंदी की सेवा इतने निश्छल भाव से की थी कि हम बिहारी आज भी उनका स्मरण अत्यंत श्रद्धा के साथ करते हैं। बिहार के माध्यमिक स्कूलों की परीक्षा में प्रतिवर्ष हिंदी में सर्वप्रथम होनेवाले छात्र को एक पदक दिया जाता है जिसका नाम 'भूदेव-हिन्दी-पदक' है। बंगाल-बिहार के बीच सद्भाव का सूचक यह पदक एक साल मुझे भी प्राप्त हुआ था। अतएव भूदेव बाबू का नाम मेरे मन में उत्साह जगानेवाला नाम है।

श्री राजनारायण बसु हिंदू-सांस्कृतिक जागरण के एक दूसरे प्रबल नेता हुए हैं। उन्होंने भी सन् 1880 ई० के लगभग 'महा-हिंदू-समिति' का जो घोषणा-पत्र 'वृद्ध हिंदूर आशा' नामक अपने ग्रंथ में प्रकाशित किया था, उसमें उन्होंने लिखा था कि 'भारतवर्ष के सभी स्थानों के सदस्यगण आपस में बोलचाल और पत्राचार में हिंदी का व्यवहार करें,

समिति के सदस्य सब प्रकार इसकी चेष्टा करेंगे। बंगाल या मद्रास आदि स्थानों के सदस्यों को, जहाँ की भाषा हिंदी नहीं है, हिंदी सीख लेनी चाहिए।'

स्मरण रहे कि बंगाल के मनीषियों ने ये प्रस्ताव इसलिए नहीं किए थे कि उस समय बंगला भाषा समृद्ध नहीं थी। ये बातें उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण की हैं और उस समय भी बंगला साहित्य इतना समृद्ध हो चुका था कि उसका मंदिर-कलश अन्य भाषाओं के मंदिर कलशों से ऊपर चमक रहा था। बंगीय महापुरुषों की दृष्टि हिंदी पर उसके साहित्यिक गुणों के कारण नहीं पड़ी थी, प्रत्युत इस कारण कि हिंदी समझनेवाले लोग देश में बहुत अधिक थे और इन नेताओं ने यह सोचा कि अंगरेजी के स्थान पर हिंदी को चलाने में देश को कम-से-कम कठिनाई होगी। कितने बड़े थे वे लोग जिनके हृदय में राष्ट्रीयता के इतने ऊँचे भाव थे, जो राष्ट्र-पुरुष के महाव्यक्तित्व की स्थापना करने के लिए अपने व्यक्तित्व को आप दबा लेते थे, जिन्होंने अपनी श्रेष्ठता का विस्मरण करके हिंदी का वरण केवल इसलिए किया था कि इस भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का कार्य अपेक्षाकृत अल्प-श्रमसाध्य होगा।

जिन कारणों से स्वामी दयानंद और बंगाल के सांस्कृतिक नेताओं ने अपना मत हिंदी के पक्ष में दिया था, बहुत कुछ उन्हीं कारणों से प्रेरित होकर भारत की विधान-परिषद् ने हिंदी को देश की राजभाषा का पद प्रदान किया है। यह निर्णय बड़े महत्व का निर्णय है, क्योंकि इससे सारे संसार ने यह समझा है कि भारतवासियों के हृदय में राष्ट्रीयता के सच्चे भाव काम कर रहे हैं और उनकी भाषागत विविधताओं से भारत की राष्ट्रीय एकता में कोई विघ्न नहीं पड़नेवाला है। किंतु ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों राष्ट्रभाषा-विषयक नाना कठिनाइयाँ हमारे समाने प्रकट होती जा रही हैं। अतएव हमारा धर्म है कि इन कठिनाइयों का निराकरण हम धैर्य, दूरदर्शिता, प्रेम और सौहार्द्र से करते चलें, जिससे भाषाओं के बीच शंका और त्रास का स्थान न मिले और हमारी राष्ट्रीय एकता भी पूरी हो जाय।

राष्ट्रभाषा के संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जबकि हिंदी-भाषी क्षेत्रों की जनता पर अभी केवल दो भाषाएँ (हिंदी और अंग्रेजी) सीखने की विवशता है, तब अहिंदी-भाषी क्षेत्रों की जनता प्रायः तीन भाषाएँ- मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और अंग्रेजी सीखने की बाध्यता का सामना कर रही है। यह विचित्र स्थिति है जिसका निराकरण भी असंभव दीखता है। इन दो प्रकार की जनताओं को समान कठिनाई में डालकर दोनों को एक स्थिति में बनाए रखने के निमित्त कहीं-कहीं से यह सुझाव आ रहा है कि सभी प्रांतों में सभी भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था की जाय और प्रत्येक भारतवासी स्नातक के लिए यह

अनिवार्य कर दिया जाय कि वह अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त एक और भारतीय भाषा अवश्य सीखे। मेरा अनुमान है कि ऐसी व्यवस्था भारत में अनतिदूर भविष्य में होने ही वाली है और उससे देश की एकता में वृद्धि भी होगी। किन्तु दो कारणों से मैं ऐसे प्रस्ताव में संशोधन चाहूँगा। पहला, कारण तो यह है कि उत्तर भाषाएँ परस्पर दूर नहीं हैं। यहाँ एक भाषा-क्षेत्र में दूसरी भाषा के जानकार यथेष्ट संख्या में विद्यमान हैं और इन भाषाओं के बीच विचारों का आदान-प्रदान भी मजे में चल रहा है। यदि एक अन्य भारतीय भाषा अनिवार्य करनी ही है तो प्राथमिकता दक्षिण भारत की भाषाओं को मिलनी चाहिए जिससे दक्षिणी भाषाओं के काफी जानकार उत्तर भारत के प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में उत्पन्न हो जाय और भारत के इन दो अंचलों के बीच विचारों का आवागमन इस सघनता से होने लगे कि जो विंध्याचल महर्षि अगस्त्य के प्रत्यागमन की प्रतीक्षा में भूमिष्ठ होकर पड़ा हुआ है उसे अपना मस्तक उठाने का अवसर ही न मिले। दूसरा कारण यह है कि एक भाषा-क्षेत्र में दूसरी भाषा का प्रचार इस भाव से किया जाना चाहिए कि इसके द्वारा हमें देश की मानसिक एकता में वृद्धि करनी है, न कि इसलिए कि सभी क्षेत्रों की जनता को एक प्रकार की कठिनाई में डालकर हमें संभावित द्वेष के विष को शमित करना है। जहाँ सुविधाएँ नहीं हैं, वहाँ कठिनाइयों को बाँट लेना भी राष्ट्रीयता का ही कार्य है। किंतु यह राष्ट्रीयता उच्च कोटि की नहीं होगी। ऊँची राष्ट्रीयता का भाव तो वही हो सकता है जिससे प्रेरित होकर एक क्षेत्र की जनता दूसरे क्षेत्र की जनता की सुविधाओं का ध्यान रखती हो। तीन भाषाएँ सीखने की कठिनाई ही हमारी सबसे बड़ी कठिनाई है, प्रत्युत हमारी अन्य सारी कठिनायाँ इसी कठिनाई से शक्ति प्राप्त कर रही हैं। किंतु यह एक ऐसा कार्य है जिसमें हम हिंदी-भाषी लोग आपकी कोई भी सहायता नहीं कर सकते। हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि आपके सम्मुख हम अपने मस्तक को किंचित् नत रखें, क्योंकि भाषा के क्षेत्र में भारतीय एकता का जो महल तैयार हो रहा है उसमें गारा-चूना ढोने से लेकर ईंट बैठाने तक का सारा कार्य आपके कंधों पर पड़ा है और हम छाया में खड़े विश्राम कर रहे हैं। हाँ, हम हिंदीवाले यह आश्वासन आपको दे सकते हैं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का कोई भी अनुचित लाभ हम नहीं उठाएँगे।

हमारी दूसरी कठिनाई यह है कि भारत की क्षेत्रीय भाषाएँ हिंदी को इस दृष्टि से देखने लगी है, मानो हिन्दी के प्रचार से क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में विध्न पड़नेवाला हो। यह शंका कैसे उठी, यह समझ में नहीं आता। हिंदी राजभाषा घोषित हुई है और उसका उपयोग भी केंद्रीय शासन एवं अंत:प्रांतीय कार्यों तक ही सीमित रहेगा। यह समझना तो

नितांत भूल है कि अंग्रेजी आज जितने स्थान को दबाकर बैठी हुई है, वह सारा-का-सारा स्थान एक दिन हिंदी को प्राप्त होनेवाला है। केवल अंत:प्रांतीय कार्य हम हिंदी में करना चाहते हैं। बाकी सारे कार्य तो ऐसे ही हैं जिन्हें प्रांतीय भाषाओं में करना होगा। रह गई शिक्षा के माध्यम की बात। सो, उस संबंध में भी स्थिति साफ हो चुकी है कि प्रांतीय भाषाएँ शिक्षा का माध्यम बनाई जा सकती हैं, क्योंकि इसके बिना जनता में देश-भाषा-विषयक अनुराग जगाया नहीं जा सकता। हाँ, उच्च न्यायालयों में देश भर में एक भाषा का उपयोग किया जा सके, इसके लिए यह अनिवार्य दीखता है कि प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में राष्ट्रभाषा की शिक्षा का भी सुदृढ़ प्रबंध रहे जिससे कलकत्ते के वकील पटने में और मद्रास के एडवोकेट इलाहाबाद में भी काम कर सकें। किंतु यह कार्य भी प्रांतीय जनता की सुविधा और प्रांतीय नेताओं की सहमति से ही संपन्न किया सकता है। स्थिति यह है कि हिन्दी के आंदोलन को भारत की सभी भाषाओं के आंदोलन से संबद्ध कर देना चाहिए, जिससे सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी की अधोगति और भारतीय भाषाओं की प्रगति का कार्य एक साथ चल सके। हिंदी अपनी किसी भी बहन से शत्रुता नहीं कर सकती। भारतीय भाषाओं की एकमात्र बाधा तो अंग्रेजी है जो सबका भाग दबाकर निर्द्वंद्व बैठी हुई है। हिंदी-समेत सभी भाषा-बहनों का यह धर्म है कि वे अंग्रेजी को राजसिंहासन से हटाकर देश के शासन को देश की जनता को सुपुर्द करें। हाँ, अंग्रेजी तब भी एक विश्वभाषा के रूप में हमारे यहाँ आदर पाती रहेगी, क्योंकि डेढ़ सौ वर्षों की प्रगाढ़ संगति के कारण वही हमारा एकमात्र सेतु है जिसपर चढ़कर हम समुद्र के आर-पार जा सकते हैं।

राष्ट्रभाषा-विषयक हमारी तीसरी कठिनाई वास्तविक की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है और इसका प्रचार भी सौभाग्यवश अभी देश के एक ही अंचल अर्थात् पश्चिमी भारत में हुआ है। इस कठिनाई को सामने लानेवाले विद्वानों का कहना है कि जो हिंदी हिंदी-प्रांतों के लिए प्रचलित है, वह राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। राष्ट्रभाषा का पद तो उस हिंदी को मिलेगा जो भारत की चौदह भाषाओं के योग से बनेगी। चूँकि यह सुझाव कुछ सुधी व्यक्तियों ने रखा है, इसलिए हमने बड़ी ही सहानुभूति से इसके मर्म को समझना चाहा। किंतु दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक इसका भेद हमपर नहीं खुला। प्रत्येक भाषा की शाखा-प्रशाखाएँ अनंत होती हैं। जनता जो बोलती है वह उसका औसत रूप होता है। जिस दिन हिंदी राजभाषा चुनी गई उस दिन ऐसा तो नहीं था कि हिंदी का कोई अस्तित्व ही नहीं था और विधान-परिषद् ने यह काम देश पर छोड़ दिया कि हिंदी नाम से वह कोई नई भाषा तैयार कर ले। ऐसा सोचना तो सुलझी हुई स्थिति को फिर से उलझन में डालना

है, धोई हुई गाय को फिर से पंक लगाना है। वस्तुस्थिति यह है कि विधान-परिषद् के सामने हिंदी का एक औसत रूप अवश्य विद्यमान था और परिषद् ने उसे ही भारत की राजभाषा के लिए उपयुक्त ठहराया। हाँ, उसने यह प्रतिबंध अवश्य लगा दिया है कि राजभाषा का विकास इस प्रकार से किया जाय कि अन्य भाषाओं के साथ अधिक-से-अधिक एकता स्थापित करके वह भारत की सामासिक संस्कृति की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति कर सके।

किंतु यह कार्य हम किस प्रकार करनेवाले हैं? क्या इसके लिए सभी भाषाओं की पंचायत बुलाई जायेगी और उससे यह निर्णय लिया जायेगा कि हिंदी में किस भाषा के कितने शब्द और मुहावरे लिए या न लिए जायँ। यदि ऐसा हुआ तो हिंदी कृत्रिम भाषा हो जायेगी और तब सामासिक संस्कृति तो क्या, वह साधारण भावों को भी ठीक से अभिव्यक्त नहीं कर सकेगी। यदि सामासिक संस्कृति से तात्पर्य हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के मिश्रित रूप से हो, तो भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा में कृत्रिमता लाने की आवश्यकता नहीं दिखती। कृत्रिमता कुरूपता का ही दूसरा नाम है और जो चीज कुरूप है वह संस्कृतियों का वाहन नहीं बन सकती। मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत-ग्रंथ' भारत की सामासिक संस्कृति का प्रोज्ज्वल प्रमाण है; सब-के-सब तत्सम, तद्भव अथवा देशज ही हैं; किंतु जायसी को उनके कारण सामासिक संस्कृति के आख्यान में कठिनाई नहीं हुई है। सामासिक संस्कृति के एक और महाकवि खानखाना अब्दुर्रहीम हुए हैं जिनके दोहों में तत्सम एवं तद्भव शब्दों की ही भरमार है, किंतु जो कुछ उन्हें कहना था, उसे वे बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से कह गए हैं। बंगला में रमाई पंडित के 'शून्य पुराण' से बढ़कर सामासिक संस्कृति का और ग्रंथ कौन होगा? किंतु 'शून्य पुराण' की भाषा तत्सम-संवलित बंगला भाषा ही है। इजार, खुदा, मलना और नूर बीबी, ये शब्द तो उसमें प्रसंगवश ही आए हैं और सहजता के साथ भी। सच तो यह है कि सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति में भाषा का तत्सम-संवलित रूप बाधक नहीं होता, इस सत्य की भी सर्वाधिक पुष्टि बंगला भाषा और बंगला साहित्य ही करता है; क्योंकि बंगाल के मुस्लिम कवियों ने भी अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए बंगला भाषा के सहज-सुंदर रूप का त्याग आवश्यक नहीं समझा। काजी नजरूल इस्लाम और कवि जसीम उद्दीन की कविताएँ इसके उज्ज्वल प्रमाण हैं।

परंतु हिंदी क्षेत्रों का दुर्भाग्य है कि वहाँ हिंदी-उर्दू का विवाद अबतक भी शमित नहीं हो रहा है। और अब इसी विवाद को राष्ट्रीय हिंदी एवं प्रांतीय हिंदी का विवाद बनाकर

लोग एक अन्य वातायन से एकता के सरोवर में जहर फेंक रहे हैं। संविधान ने राष्ट्रभाषा के विकास की जो दिशा संकेतित की है, हिंदी उस दिशा में चल रही है और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का जो स्वाभाविक प्रभाव उसपर पड़ना चाहिए वह भी अनुकूल ढंग से पड़ता जा रहा है। बंगला की ढेर की ढेर पुस्तकों का अनुवाद हिंदी में हुआ है और इन अनुवादों के साथ बहुत-से ऐसे मुहावरे और प्रयोग भी हिंदी में आए हैं जो पहले अविद्यमान थे। कुछ बंगाली लेखक भी जोरदार हिंदी लिख रहे हैं। उनकी शैली में ऐसी अनेक विलक्षणताएँ हैं जिनसे हिंदी की शक्ति बढ़ती जा रही है। इसी प्रकार गुजराती, मराठी, तेलगु, तमिल, कन्नड़ी और मलयालम, इन भाषा-क्षेत्रों में भी हिंदी के लेखक उत्पन्न हो चुके हैं और उनकी रचनाओं के भीतर से अनेक भाषाओं के पुट हिंदी में उतरते जा रहे हैं। यदि हिंदी को सभी क्षेत्रीय भाषाओं से विलक्षणताएँ ग्रहण करके व्यापक राष्ट्रीय रूप लेना है, तो उसका सही मार्ग यही हो सकता है कि हिंदी को सभी भाषाओं के लेखकों की लेखनी का प्रसाद मिले, सभी क्षेत्रों की प्रतिमाएँ हिंदी में अपना बिंब फेंकें और सभी प्रांतों की भावात्मक भंगिमाएँ उसमें प्रवेश पाएँ। भाषा गढ़ी नहीं जाती। वह आप-से-आप जनमती और अपना विकास पाती है। हिंदी का विकास उचित दिशा में हो रहा है। इस विकास में व्याघात डालना देश के आध्यात्मिक विकास में हस्तक्षेप करने के समान है। अतएव हम चाहते हैं कि लोग राष्ट्रीय एवं प्रांतीय हिंदी के माया-जाल को समेट लें। जिन्हें शिक्षा-दीक्षा और संस्कार के कारण अरबी और फारसी के शब्द अधिक सूझते हैं, उन्हें उन शब्दों के मनमाने प्रयोग का पूरा अधिकार है। इसी प्रकार जो लोग संस्कृत के पक्षपाती हैं उन्हें भी खुलकर तत्सम शब्दों का प्रयोग करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। किंतु साथ ही भारतीय जनता का भी यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह जिस शैली को पसंद करे, उसे जी खोलकर अपना ले।

(पश्चिम बंग-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के दशम
समावर्तन-उत्सव पर प्रदत्त अभिभाषण का अंश)

❑❑❑

मशीनी मानव

● अमित मिश्र

जीवन पर विज्ञान की बढती दबिश ने
आज के मानव को मशीनी बना दिया है
हाँ, मात्र मशीन, जिसके पास
खाना है, पर भूख नहीं,
बिस्तर है, पर नींद नहीं,
सीना है, पर दिल नहीं
धड़कन है पर जज्बात नहीं...।
शिक्षा है ज्ञान नहीं,
सूचनाओं के भंडार से
इतना भरा, दबा है मस्तिष्क
कि चिंतन का अवकाश नहीं।
दृष्टि नहीं, सृष्टि नहीं,
इन्सान और हैवान में
फर्क करने की तहजीब नहीं।

रिश्ते हैं पर उनमें जान नहीं
आचरण में ईमान नहीं।
करणीय, अकरणीय का विवेक नहीं
माँ-बाप का सम्मान नहीं,
यंत्रचालित सा आचरण,
बनावटी व्यवहार,
न वह अह्लाद, न अनुराग, न उमंग
औपचारिकताओं से बोझिल हैं रिश्ते
मशीनी हो गए हैं अंग-अंग।
क्योंकि मशीन की हरकतों में जज्बात नहीं
भौतिकता की तलाश में
खुद को खोता जा रहा है इन्सान
क्योंकि इन्सानियत के बिन इन्सान
मशीन ही तो होता है।

❑❑❑

विश्व हिंदी साहित्य परिषद् द्वारा हिंदी दिवस की पूर्व संध्या पर आयोजित सम्मान समारोह

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906